वसतिमार्गप्रकाशक श्रीमज्जिनेश्वरसूरिप्रणीत

पञ्चलिङ्गीप्रकरणम्

ŚRMAJJINEŚVARASŪRI'S

PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ

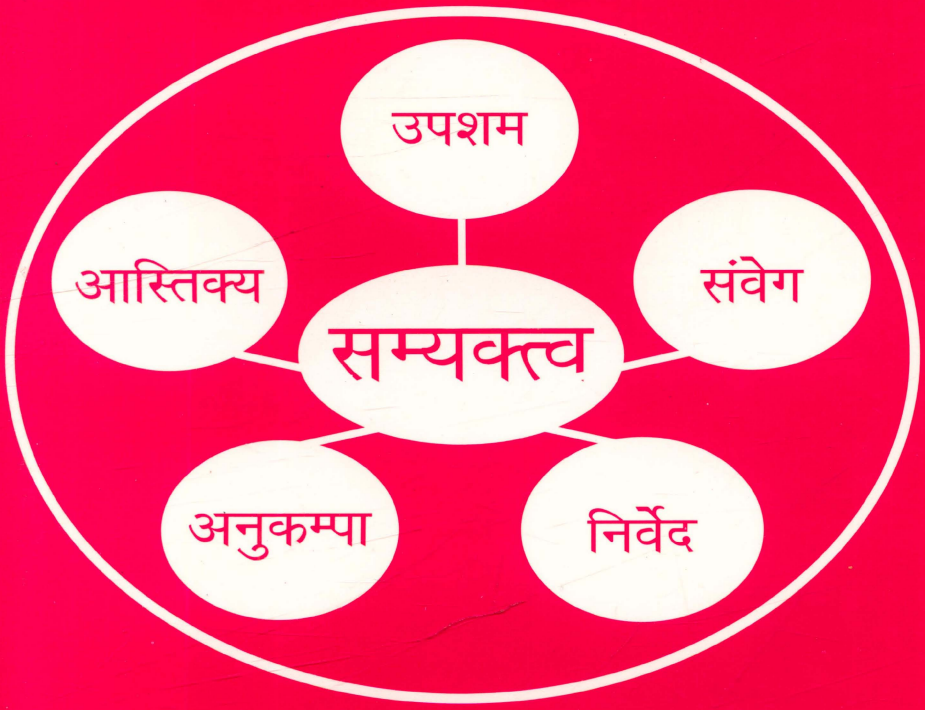

डॉ. हेमलता बोलिया Dr. (Col.) D. S. BAYA

यह पुस्तक

श्रीमज्जिनेश्वरसूरि प्रणीत पंचलिंगी- प्रकरण सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का व्याख्यात्मक विवरण देने वाला महत्वपूर्ण प्राकृत-काव्य ग्रंथ है।

शास्त्रकार ने पाँच सम्यक्तवलिंगों का वर्णन करते हुवे जैन-दर्शन का भारतीय धर्म-दर्शनों में प्रमुख षड्दर्शनों के साथ सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से यह एक अति महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ भी है।

यह पुस्तक इस प्राकृत-ग्रंथ की गाषाओं की संस्कृतछाया सहित हिंदी व अंग्रेजी में गद्य-पद्यात्मक अनुवाद करके प्रकाश में लाने का महत् उपक्रम है।

THIS BOOK

Panchlingi Prakarana is an important Prakrit poetic composition by Shrimad Jjineshwarasuri that describes the five signs of Righteousness.

While describing the five indicators of Righteousness, the author has also compared the Jaina philosophical beliefs with those held by six major religious philosophies of India. Viewed from this angle, it is an important philosophical treatise as well.

This book is a humble attempt to bring to light this ancient and unpublished work.

वसतिमार्गप्रकाशक श्रीमज्जिनेश्वरसूरिप्रणीत

पञ्चलिङ्गीप्रकरणम्

ŚRIMAJJINEŚVARASŪRI'S

PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ

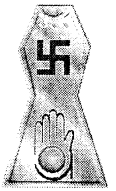

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

संपादन, संस्कृतछाया व हिन्दी अनुवाद

डॉ. हेमलता बोलिया, एम.ए.(संस्कृत); विद्यावाचस्पति

ROMAN TRANSLITERATION, TRANSLATION IN HINDI & ENGLISH PROSE & POETRY, COMMENTARY AND PREFACE

Dr. (Col.) D. S. Baya, M.A. (Prakrit); M.Sc. (Maths.); Ph.D.

प्रेरणादात्री

पं. पू. गुरुवर्याश्री श्रीसुदर्शनाश्रीजी म.सा. की शिष्या

मेवाड़-मालवज्योति साध्वी श्री चन्द्रकलाश्रीजी म.सा.

श्री विमल सुदर्शन चन्द्र पारमार्थिक जैन ट्रस्ट

उदयपुर ३१३ ००१ (राजस्थान)

सौजन्य : श्री गुजराती जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ,

६६ कैनिंग स्ट्रीट, कोलकाता

प्रकाशक	:	श्री विमल सुदर्शन चन्द्र पारमार्थिक जैन ट्रस्ट, सौभाग्य-उत्तम-सुमति-विमल स्वाध्याय मंदिर, मालदास स्ट्रीट, हनुमान चौक, गोड़ीजी का उपाश्रय, उदयपुर (राजस्थान)
Publisher	:	**Shri Vimal Sudarshan Chandra Paramarthik Jain Trust Saubhagya–Uttam–Sumati–Vimal Svadhyaya Mandir, Maldas Street, Hanuman Chowk, Godiji Ka Upasray, Udaipur (Rajasthan)**
प्राप्ति स्थान	:	१. प्रकाशक २. श्री सम्मेतशिखर तीर्थ पेढ़ी, पो. बही, स्टे.पीपलिया मंडी, ज़ि. मन्दसौर (म.प्र.) ३. शुभ संकल्प : बया मंमोरियल ट्रस्ट, ई-२६, भूपालपुरा, उदयपुर - ३१३ ००१ (राज.)
पुस्तक	:	पञ्चलिङ्गीप्रकरणम्
Title	:	**PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ**
लेखक	:	डॉ. हेमलता बोलिया डॉ. (कर्नल) दलपतसिंह बया 'श्रेयस'
Authors	:	**Dr. Hemlata Boliya Dr. (Col.) D. S. Baya 'Shreyas'**
संस्करण	:	प्रथम - २००६.
Edition	:	**First - 2006.**
मूल्य	:	रु. १५०.००; US $ 7.50
Price	:	**Rs. 150.00; US $ 7.50**
कम्प्यूटर सेटिंग	:	शुभ-संकल्प, उदयपुर
Composing	:	**SHUBH SANKALP, UDAIPUR**
मुद्रण	:	मे. चौधरी ऑफसेट प्रा. लि., उदयपुर
Printing	:	**M/s Coudhary Offset Pvt. Ltd., Udaipur**

समर्पण

चारित्रचक्रवर्ती

परमपूज्य तपागच्छाधिपति स्व. आचार्य

श्री विजयरामसूरीश्वरजी म.सा.

(डहेलावाला)

की स्मृति को सश्रद्ध

समर्पित

DEDICATION

Dedicated

to the sacred memory of our revered Guru

Acharya

Srhi Vijaya Ram Sureeshwaraji

(Dahelawala)

प्रकाशकीय

प्राकृत जैन-साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है जिसमें आध्यात्म एवं जीवन-दर्शन के अनमोलरत्न विद्यमान हैं। दुर्भाग्य से इनमें से अनेक ग्रंथों के सरल हिंदी भाषा में अनुवाद उपलब्ध न होने से जनसाधारण इनकी ज्ञान-निधि का पर्याप्त लाभ उठाने में असमर्थ रह जाते हैं।

यह संस्था आगम-ज्ञान व धार्मिक साहित्य को सरल व सुबोध हिंदी व अंग्रेजी भाषाओं में उपलब्ध करवाकर जिज्ञासु पाठकों की इस समस्या का निराकरण करने के लिये सतत प्रयासरत है।

वसतिमार्गप्रकाशक खरतरगच्छ के आद्याचार्य श्रीमज्जिनेश्वरसूरि विरचित 'पञ्चलिङ्गीप्रकरणम्' जैन-दर्शन के एक अति महत्त्वपूर्ण विषय - सम्यक्त्व के पाँच लिंगों (उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, व आस्तिक्य) का गहन विवेचन करने वाला ग्रंथ है, जिसकी सभी निष्ठावान् साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के लिये उपयोगिता सर्वविदित है। लेकिन फिर भी यह ग्रंथ सर्वसुलभ नहीं है क्योंकि इसका हिन्दी व अन्य आधुनिक भाषाओं में अनुवाद नहीं हुआ है। हमें प्रसन्नता है कि संस्कृत की विदुषी डॉ. हेमलता बोलिया और प्राकृतभाषाविद् व जैन-दर्शन के गंभीर अध्येता डॉ. (कर्नल) दलपतसिंहजी बया ने अत्यंत परिश्रम व प्रयास-पूर्वक इस ग्रंथ के शोधपूर्ण परिचय के साथ ही इसकी प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया, तथा सरल व सुबोध हिन्दी व आंग्लभाषा में गद्य-पद्यानुवाद सहित प्रणयन किया है जिससे विद्वद्वर्ग तथा जनसामान्य दोनों समान रूप से लाभान्वित हो सकेंगे। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही दिये गए सम्यग्दर्शन-दिग्दर्शन, ग्रंथ-समीक्षा व ग्रंथकार के परिचय सहित शोधपूर्ण परिचयात्मक लेख व अकारादिक्रम में गाथानुक्रमणिका,

पारिभाषिक शब्दावली व संदर्भग्रंथ सूची आदि परिशिष्टों से इस पुस्तक की उपयोगिता में कई गुणा वृद्धि हुई है।

ग्रंथ के कलेवर के हिन्दी भाग में प्राकृत गाथाओं की संस्कृतछाया, हिन्दी पद्यानुवाद व हिन्दी गद्यानुवाद दिया गया है, तथा आंग्ल भाग में प्राकृत गाथाओं व संस्कृतछाया का रोमन लिप्यांतर, आंग्ल पद्यानुवाद तथा आंग्ल गद्यानुवाद दिये गए हैं जिससे यह पुस्तक हिन्दी व आंग्ल भाषाओ के जानकार तथा सभी प्रकार की रुचियों वाले पाठकों के लिये रुचिकर होगी ऐसी आशा करते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन की वेला में हम अपने गुरुजनों : चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य तपागच्छाधिपति आचार्य श्री विजय रामसूरीश्वरजी म.सा. (डहेलावाला) का पुण्य स्मरण करते हैं तथा प. पू. गुरुणीवर्या साध्वीजी श्री सुदर्शनाश्रीजी म.सा. का आभार मानते हैं जिनके मार्गदर्शन से ही ऐसे पुण्यकार्य सम्पन्न होते हैं। हम इस ग्रंथ के प्रकाशन में अत्यंत उदारतापूर्वक अर्थसहयोग करने वाले कोलकाता के श्री गुजराती जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ का भी धन्यवाद करना अपना कर्तव्य समझते हैं। अंत में हम शुभ संकल्प, उदयपुर के आभारी हैं कि उन्होंने अल्प समय में ही इस पुस्तक की सुन्दर व सुरुचिपूण टाईपसेटिंग की है, तथा मे. चौधरी ऑफसेट प्रा. लि., उदयपुर का भी आभार प्रदर्शित करते हैं जिन्होने इस ग्रंथ को अल्प समय में ही इतने सुंदर रूप में मुद्रित किया हैं।

दौलतसिंह गांधी
अध्यक्ष

बी. एल. दोशी
सचिव

PUBLISHER'S NOTE

Prākṛt Jaina literature is an invaluable treasure of Indian culture and literature in which precious gems of spirituality and philosophiyof life are available. It is unfortunate that because many of its works have not been translated into Hindi and other modern languages, the desirous and inquisitive readers cannot derive the desired benefit from this treasure.

In order to fulfil this much–felt need of the time, this establishment is engaged in translation and publication of such canonical and other works in lucid and easily understandable Hindi and English languages.

Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ authored by *Śrimajjineśvarasūri,* the first master of the monastic order of *Khartar gaccha,* is devoted to the description of five signs (Subsidence, Desire for liberation, Detacment, Compassion, and Firm belief) one of the most important subjects of Jaina philosophy – Right–vision, which makes it an equally important and invaluable subject of study for the Jaina clergy as well as laity. Even then this work is not available to everyone, as it has not been translated into Hindi or English so far. We are happy that Dr. Hemlata Boliya, a renowned *Saṁskṛt* scholar, and Dr. (Col.) D. S. Baya,

a *Prākṛt* scholar and a serious student of Jaina philosophy, have taken pains to render its *Prākṛt* couplets into *Saṃiskṛt* shadow verses, and to translate it into Hindi and English prose and poetry respectively. Besides, inclusion of a well–researched introductory essay as well as appending of useful appendices such as Transliteration convention, alphabetical order of verses, glossary of technical terms and bibliography have considerably enhanced the utility of this work. It is hoped that both, the scholars as well as the ordinary readers of Hindi as well as English stream will benefit from this painstaking work.

While bringing out this work, we reverently remember our esteemed *Guru Tapagacchadhipati Acharya Shri Vijaya Ramasurishvaraji Ma. Sa.* and our *Guruniji Sadhviji Shri Sudarshanashriji Ma. Sa.* whose constant guidance is responsible for the publication of such meritorious works. We must also acknowledge the generous monetary assistance provided by *Shri Gujarati Jain Shwetambar Tapagaccha Sangh, Kolkata* for its publication. Finally, we are thankful to *Shubh Sankalp,* Udaipur for an elegant type setting of this book. Our thanks are also due to M/s. Coudhary Offset Pvt. Ltd., Udaipur for printing it so beautifully in such a short time.

Daulat Singh Gandhi
President

B. L. Doshi
Secretary

पुरोवाक्

अहिंसा आधारित जिन प्रतिपादित जैन-धर्म का मूल मंत्र है 'जियो और जीने दो' जो इसे वास्तविक अर्थों में जीवन-धर्म बनाता है। इस जीवन-धर्म के कालजयी सिद्धान्तों तथा उनको जीवन में ढालने के निमित्त प्रविधित आचार नियमों के विवेचन के प्रयास विभिन्न व्याख्याकारों तथा *लेखकों द्वारा समय २ पर अपने काल की मांग के अनुसार किये जाते रहे हैं जो समयानुसार प्रभावशाली भी रहे हैं।*

वर्तमान समय की मांग है जैन-धर्म के सिद्धान्तों तथा आचार-नियमों की सरल लोकभाषा में ऐसी प्रस्तुति जिसे जनसामान्य सरलता से पढ़कर हृदयंगम कर सकें। इसके अतिरिक्त जैन-सिद्धान्तों का मानवजीवन में आने वाली विभिन्न समस्याओं के साथ ऐसा संबंध उद्घाटित करना जिससे वे सिद्धान्त उनके मानने वालों की उन समस्याओं के निराकरण में सहायक हो सकें।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि डॉ. हेमलता बोलिया व डॉ. (कर्नल) दलपतसिंहजी बया 'श्रेयस' ने जैन-दर्शन के एक अति महत्त्वपूर्ण पहलू - सम्यक्त्वलिंग पर श्रीमज्जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रणीत विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'पंचलिंगीप्रकरणम्', जो अभी तक हिन्दी व अन्य आधुनिक भाषाओं में अनूदित नहीं हुआ है, का सरल व हृदयग्राही हिन्दी व आंग्लानुवाद ही नहीं किया है, अपितु इसकी प्राकृत गाथाओं की संस्कृतछाया, रोमन लिप्यांतर, व *पद्यानुवाद जैसे श्रमसाध्य कार्य करके जिज्ञासु पाठको के लिये एक उपयोगी* कृति प्रस्तुत करने का स्तुत्य कार्य किया है।

ग्रंथ के प्रारंभ में ही दिये गए सम्यग्दर्शन का दिग्दर्शन, तथा ग्रंथ व ग्रंथकार पर एक शोधपरक परिचयात्मक निबंध इस पुस्तक को अवश्य ही एक विशिष्ट आयाम देते हैं।

पुस्तक के कलेवर का संयोजन काल्पनिकता व सौन्दर्यबोध के साथ किया गया है। इसमें प्रत्येक गाथा पर आमने-सामने हिन्दी व आंग्ल भाषाओं

में दिये गए अनुवादादि जहाँ इसे हिन्दी अथवा आंग्लभाषा जानने वालों के लिये उपयोगी बनाते हैं वहीं दोनो भाषाओं पर समान अधिकार रखने वाले विद्वानों के लिये भी इसका तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने में सहायक होते हैं।

ग्रंथ के अंत में दिये गए परिशिष्ट भी अत्यंत उपयोगी हैं तथा वे पाठकों की जिज्ञासा को कुछ हद तक शान्त व काफी हद तक और जागृत करने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

अंत में मैं लेखकों का इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ के प्रणयन के लिये साधुवाद करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि उनकी लेखनी अविराम गति से ऐसे अनेक ग्रंथों के प्रणयन की माध्यम बनेगी।

शुभं भवतु!

प्राच्य विद्यापीठ, – प्रो. सागरमल जैन
शाजापुर (म. प्र.)
मकर संक्रान्ति, १४ जनवरी, २००६.

FOREWORD

'Live and let live' is the basic precept of Jainism that preaches the utmost non–violence, and it makes it the true philosophy of life. The time honoured tenets of this philosophy of life and and the ethics that go with them have been explained by various authors and scholars from time to time according to the demands of their times.

The demand of the time is that the philosophical thoughts and ethical prescriptions of Jainism be presented to the general public in such languages that they can easily understand and comprehend. Besides, the Jaina tenets must be so related to the day–to–day problems faced by the common man that he finds them useful and feels motivated to adopt them.

It gives me great pleasure to see that Dr. Hemlata Boliya and Dr. (Col.) D.S. Baya have taken up the study of a highly important aspect of Jaina philosophy – five signs of right–vision, and rendered *'Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ'*, a scholarly treatise on the subject by *Śrimajjineśvarasūri* (the first and foremost master of the monastic order that is known by the title of *Khartar gaccha*), into Hindi and English. The duo has not only given the captivating Hindi and English translations of the hither to fore untranslated work, but also very

painstakingly, given the *Saṁiskṛt* shadow verses, roman transliteration of *Prākṛt* and *Saṁiskṛt* couplets and rendered them in Hindi and Englich poetry as well. These certainly make it a worthy and useful effort.

The well–researched introductory essay comprising an analysis of the concept of right–vision, and a crtique on the original work followed by a description of the life and work of the worthy author give it a different dimension altogether.

The main body of the book has been very imaginatively and aesthetically designed. While the Hindi and English versions of the same *Prākṛt* verse, given on the facing pages, make it useful for those knowing either Hindi or English, for the scholars in command of both the languages it affords an opportunity for a comparative evaluation.

The appendices given at the end of the book are also quite useful, and while they satisfy the curiosity of the readers to some extent, they also go to arouse it even further.

Finally I must congratulate the authors for this highly useful book, and hope that that their creative pen will put forth many such works in future also.

Prachya Vidyapeeth — Prof. Sagarmal Jain
Shajapur (M.P.)
Makar Saṅkranti, 14th January, 2006.

स्वकथ्य

हमें इस ग्रंथ पर कार्य करने की प्रेरणा डॉ. कर्नल बया के खरतर गच्छ की साध्वीजी श्री नीलांजनाश्रीजी के संपर्क में आने से मिली। वे इस ग्रंथ के दार्शनिक अध्ययन विषय पर विद्या-वाचस्पति उपाधि के लिये शोधकार्य करने का मानस बना रहीं थीं किंतु इसका सम्यक् हिन्दी रूपान्तरण उपलब्ध नहीं हो पाने की वजह से उनका कार्य आगे नहीं बढ़ पा रहा था। काफी प्रयत्न करने पर भी उन्हें जब इस समस्या का कोई हल नहीं मिला तो उन्होंने तो अन्य विषय चुन लिया किंतु वे उन्हें एक प्रेरणा दे गई कि क्यों न इस ग्रंथ का एक हिन्दी-अंग्रेजी संस्करण तैयार किया जाय जिससे अन्य किसी जिज्ञासु या शोधार्थी को इस प्रकार निराश न होना पड़े? अतः हम पहला आभार साध्वीजी श्री नीलांजनाश्रीजी के प्रति प्रकट करते हैं।

कर्नल बया संस्कृत का स्वल्प ज्ञान रखते हैं किंतु इस प्रकार के दर्शन ग्रंथ पर कार्य करने लायक दक्षता उनमें नहीं थी, अतः उन्होंने डॉ. बोलिया के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि यदि वे संस्कृत छाया व हिंदी अनुवाद का कार्य हाथ में लें तो यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। डॉ. बोलिया ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया और हम एक टीम बन गए।

एक टीम के तोर पर ही हमनें अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य का बंटवारा कर लिया। हेमलता जी नें प्राकृत गाथाओं की संस्कृत छाया बनानें व उनका हिन्दी अनुवाद करने का दुरूह कार्य किया जिसे उन्होंने अत्यंत योग्यतापूर्वक पूर्ण किया। इस कार्य में उन्होंने 'खलु', 'नु' आदि कुछ अव्ययों का प्रयोग छन्दपूर्ति के लिये करते हुए भी इस बात का पूरा ध्यान रखा कि मूल ग्रंथकार द्वारा नियोजित अर्थ की हानि न हो तथापि सुधिजन स्वप्रज्ञा से अर्थ ग्रहण करें। इस कार्य में उन्हें पूज्या साध्वीजी मेवाड़-मालव ज्योति श्री चन्द्रकलाश्रीजी म. का आशीर्वाद व मार्गदर्शन मिला जिसके लिये लेखकद्वय उनके प्रति नतमस्तक हैं। हम साध्वीजी श्री मुक्तिप्रियाजी की सुशिष्या साध्वीजी श्री मुदितप्रियाजी व साध्वीजी श्री हर्षाप्रियाजी के भी आभारी हैं जिन्होंने प्रारंभ में ही हेमलताजी

का उत्साहवर्द्धन किया। हेमलताजी को इस कार्य में डॉ. शक्ति कुमार शर्मा (शकुन्त), वरिष्ट शोधाधिकारी, साहित्य संस्थान, ज.रा.नागर राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, से भी सहयोग व संबल प्राप्त हुआ एतदर्थ हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

डॉ. (कर्नल) बया 'श्रेयस' ने हिन्दी-अंग्रेजी पद्यानुवाद, प्राकृत गाथाओं तथा संस्कृतछायाश्लोकों के रोमन लिप्यांतरण व उनके आंग्लभाषानुवाद तथा यथावसर व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ देने का श्रमसाध्य कार्य संपादन किया। कुछ उनकी व्यस्तताएँ व कुछ उनका प्रमाद ही रहा कि यह कार्य इतने विलम्ब से पूर्ण हुवा। हेमलताजी ने तो अपना कार्य मई, २००४ में ही पूर्ण कर लिया था।

कार्य पूर्ण होने के संतोष के साथ ही हमें अपनी न्यूनताओं का भी अहसास है। यह एक दार्शनिक ग्रंथ है जिसमें श्रीमज्जिनेश्वरसूरि ने विभिन्न दार्शनिक मतों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका युक्तितः निराकरण कर स्वमत का सयुक्ति प्रतिपादन किया है। ऐसे गूढ़ ग्रंथ के अनुवाद में हम जैसे स्वल्पज्ञों के लिये सर्वत्र कठिनाई व कहीं-कहीं त्रुटियाँ होना भी स्वाभाविक है तथा इसके लिये हम विज्ञजनों से क्षमायाचनासह विनम्र विनंति करते हैं कि हमें अपनी त्रुटियों को दूर करने का अवसर प्रदान करने के लिये ही वे अपने अमूल्य सुझाव भेजने में झिझक का अनुभव न करें, तो ही ज्ञान के पक्ष में होगा।

अंत में एक बार फिर हम उन सभी ज्ञात-अज्ञात विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनसे हमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता व मार्गदर्शन मिला है।

प्रकाशक, श्री विमल-सुदर्शन-चन्द्र पारमार्थिक ट्रस्ट, उदयपुर; श्री गुजराती जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ, कोलकाता व शुभ संकल्प, उदयपुर व मे. चौधरी ऑफसेट प्रा. लि, उदयपुर के भी हम आभारी हैं जिन्होंने क्रमशः इस पुस्तक का प्रकाशन, अर्थ सहयोग, सुरूप कम्पोजिंग-नियोजन व सुंदर मुद्रण अल्पकाल में ही करके इसे वर्तमान स्वरूप दिया है।

सुज्ञेषु किं बहुना जल्पितव्यं?

– हेमलता बोलिया

– दलपतसिंह बया 'श्रेयस'

IN A WORD

We received the motivation for working on this volume when Dr. Baya came in contact with Sadhvi Shri Neelanjanashriji, of *Khartar gaccha,* who was thinking of working for her Ph.D. thesis on the topic 'A Philosophical Study of *Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ*'. However, she was dissuaded in this pursuit by the nonavailability of a translation of this work in Hindi. After investing a considerable time and effort to get hold a suitable translation, and failing to do so, she chose another subject for her thesis. However, this disappointment by Sadhviji motivated Dr. Baya enough to take up the work of Hindi and English translation of this important Jaina philosophical work so that no other inquisitive student may face such disappointment in future. Therefore, the first of all we thank Sadhviji Shri Neelanjanashriji for this motivation.

Col. Baya possesses some knowledge of *Saṁskṛt* but he lacked the dexterity required for handling a philosophical work of this gravity. So, he approached Dr, Boliya with a proposal that she does the *Saṁskṛt* rendering and Hindi translation of the *Prākṛt* verses. She agreed readily and we became a team.

Like a team, we divided the work between us according to our abilities. Hemlataji very ably did the most difficult work of rendering the Prākṛt versesinto Saṁskṛt and translating them into Hindi. Though she had to use some particles such as 'khalu', 'nu', etc for the sake of metre but took care that the meaning intended by the author of the original text is not lost. Even then the scholars must interpret the text according to their own wisdom. In this work, she was blessed and guided by *Sadhviji Mewar–Malav Jyoti Shri Chandrakalashriji* and we bow to her in reverence. We are also indebted to *Sadhvis Shri Harshpriyaji* and *Muditpriyaji,* both disciples of *Sadhviji Shri Muktipriyaji* who encouraged Hemlataji from the very beginning. Hemlataji also received valuable help from Dr. Shakti Kumar

Sharma (Shakunt), Senior Research Officer, Sahitya Samsthan, J.R.N. Rajasthan Vidyapeeth, Udaipur as also Dr, Udai Chand Jain and Dr. Hukam Chand Jain, both Associate Professors in the *Prākṛt* Dept of M.L.Sukhadia University, Udaipur. We thank them profusely.

Dr. Baya took up the laborious work of Roman transliteration of the *Prākṛt* and *Samiskṛt* verses and of rendering them in Hindi and English free verses, translation into English prose and commeting upon them where necessary. To some extent his other engagements mostly his sloth was responsible for the delayed publication of this book. Dr. Boliya had complete her work in May, 2005 itself.

Even while feeling satisfied at the completion of the undertaken task, we are aware of our shortcomings. This is a philosophical treatise in which *Śrimajjineśvarasūri* has very logically analysed and refuted other philosophical beliefs with due and valid arguments and upheld own precepts. Translating a work of such gravity, was always difficult and we are sure to have committed some mistakes. We do request the discerning scholars to feel free to point out our shortcomings in the interest of furthering the knowledge.

Finally, once again we thank all known and unknowh scholars from whom we have received direct or indirect guidance.

The publisher, *Shri Vimal–Sudarshan–Chandra Parmarthik Trust, Udaipur; Shri Gujarati Jain Shwetambar Tapagaccha Sangh, Kolakata, Shubh Sankalp, Udaipur* and M/s. Choudhary Offset Pvt. Ltd., Udaipur also deserve our grateful acknowledgement for ppublishing, and for their flawless and aesthetic presntation of this book in such a short time.

– Hemlata Boliya

– Dalpat singh Baya *'Shreyas'*

आशीर्वचन

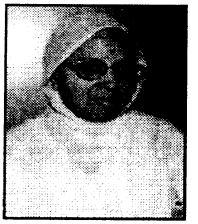

खरतरगच्छ के आद्याचार्य श्री मज्जिनेश्वरसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित सम्यक्त्व के पाँच लिंगों की व्याख्या करने वाले महत्वपूर्ण ग्रंथ 'पंचलिंगीप्रकरणम्' का आधुनिक भारतीय व पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध नहीं होने से जिज्ञासु पाठक भी इन ग्रंथों का लाभ नहीं उठा पा रहे थे। यह ग्रंथ मोक्षमार्ग के प्रस्थानबिंदु – सम्यक्त्व की प्राप्ति में प्रकाशस्तंभ की भांति है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इस प्राचीन ग्रंथ के हिन्दी व आंग्ल भाषानुवाद डॉ. हेमलताजी बोलिया तथा डॉ. कर्नल दलपतसिंहजी बया 'श्रेयस' ने अत्यंत प्रयासपूर्वक किया है। अर्थ सहयोग श्री गुजराती जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ, कोलकाता ने किया है। एतदर्थ उन्हें धर्मलाभ के साथ ही शुभकामना व आशीर्वाद है कि वे भविष्य में भी ऐसे अप्रकाशित ग्रंथों के प्रकाशन में अपने तन, मन, धन, व श्रम का सदुपयोग करते रहें।

卐

प. पू. गुरुणीवर्या श्री सुदर्शनाश्रीजी म.सा. की शिष्या

साध्वी चन्द्रकलाश्री

BLESSINGS

Pañchliṅgiprakaraṇaṁ is an important treatise on the subject of five signs of right–vision, composed by the first master of *Khartargaccha, Shrimajjineshvarasuri*, in the Prakrit language. Though its English commentary was available, the lack of a modern Indian or western language version of the work made it practically unaccessible by the desirous students. Therefore, it is a matter of great plaesure that *Dr. Hemlata Boliya* and *Dr. Col. Dalpat Singh Baya 'Shreyas'* have very diligently and dextrously translated in Hindi and English, thus satisfying a long felt need. I appreciate their effort and bless them and hope that they will continue to bring to light such old and unpublished works in future as well.

– Sadhvi Chandrakalashri

आमुख

जैन परम्परा में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र रूपी त्रिवेणी का उल्लेख है। इन तीनों में से भी सम्यग्दर्शन का अतिविशेष महत्व है क्योंकि इसके अभाव में न ज्ञान सम्यक् होता है न चारित्र ही सम्यक् रह पाता है। इसीलिये अति प्राचीन काल से ही शास्त्रकारों नें इसे मोक्ष का प्रथम सोपान[१], मोक्षमार्गप्रदर्शक[२] तथा धर्म का आधार माना है।[३] इसके महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि आचारांगसूत्र में जिनेश्वरदेव नें स्वयं इससे भी एक कदम आगे जाकर कहा कि 'सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है'।[४] वहीं कुंदकुंदाचार्य नें भावपाहुड़ में यहाँ तक कहा है कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति तो चलता-फिरता शव है।[५] उत्तराध्ययनसूत्र में इसके महत्त्व को एक नया आयाम देते हुवे भगवान महावीर नें कहा कि असम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र के गुण प्राप्त नहीं होते, चारित्रगुण के अभाव में मोक्ष (कर्ममुक्ति) नहीं हो सकता है तथा अमुक्त का निर्वाण (अखण्डानन्द या अनन्त सुख की प्राप्ति) नहीं होता है।[६] अनेक अन्य ग्रंथों में भी सम्यग्दर्शन के बारे में कहा गया है कि जो दर्शन से भ्रष्ट है वही वास्तव में भ्रष्ट है तथा चारित्रभ्रष्ट का निर्वाण तो संभव है किंतु दर्शन

---

१ ''दंसणसोवाणं पढमं मोक्खस्स।'' – कुंदकुंदाचार्य, दर्शनपाहुड़, २१.

२ ''दंसइ मोक्खमग्गं।'' – कुंदकुंदाचार्य, बोधपाहुड, १४.

३ ''दंसणमूलओ धम्मो।'' – वही, २.

४ ''समत्तदंसी न करेइ पावं।'' – आचारांग, १/३/२.

५ ''दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।'' – भावपाहुड़, १४३.

६ उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३०.

भ्रष्ट कभी भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता है[१]; कि दर्शनशुद्ध जीव ही शुद्ध है तथा वही निर्वाण को प्राप्त करता है[२], क्योंकि दर्शनसम्पन्न व्यक्ति भवभ्रमण के कारणभूत मिथ्यात्त्व का छेदन करता है।[३]

सम्यग्दृष्टि जीव के गुणों का वर्णन करते हुवे शास्त्रों में कहा गया है कि उसके द्वारा किये गए कार्यों के लिये उसे स्वल्पकर्मबंध ही होता है;[४] कि वह जो कुछ भी करता हे वह कर्म-निर्जरा के निमित्त ही करता है;[५] कि सम्यग्दृष्टि जीव निश्शंक होते हैं अतः निर्भय होते हैं;[६] कि सम्यग्दृष्टि जीव अपनेआप में ही लीन रहता है[७] और हेयाहेय का ज्ञाता होता है[८]।

सम्यग्दर्शन विषय की इस महत्ता के कारण ही जैन दार्शनिक ग्रंथों में इसका विशद विवेचन हुआ है। इसके स्वरूप, गुण-दोष, लिंग आदि पर गहन चिंतन हुआ है। श्रीमज्जिनेश्वरसूरि विरचित 'पंचलिंगीप्रकरणम्' भी इसी कड़ी का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

विषय के महत्त्व को लक्ष्य करके ही इस परिचयात्मक निबंध रूपी आमुख का संयोजन निम्नानुसार किया गया है: -

१. सम्यग्दर्शन का स्वरूपचिंतन,

२. प्रचलिंगीप्रकरणम् का समीक्षात्मक परिचय, तथा

३. ग्रंथकार श्रीमज्जिनेशवरसूरि : व्यक्तित्व व कृतित्व

---

१ भक्तपरिज्ञा, ६६.
२ मोक्षपाहुड़, ३९.
३ उत्तराध्ययनसूत्र, २९.६१.
४ वंदित्तुसूत्र, ३६.
५ कुंदकुंदाचार्य, समयसार, १९३.
६ वही, २२८.
७ कुंदकुंदाचार्य, भावपाहुड़, ३१.
८ कुंदकुंदाचार्य, सूत्रपाहुड़, ५.

सम्यग्दर्शन का स्वरूपचिंतन[1]

अपनी-अपनी दृष्टि –

प्रसिद्ध लेखक ए. जी. गार्डिनर ने अपने एक लेख में लिखा कि हरएक व्यक्ति दुनिया को अपनी ही नजर से देखता है।[2] यह कथन जीवन में दृष्टिकोण के महत्व को दर्शाता है, सम्यग्दृष्टि का महत्व प्रतिपादित करता है। सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में हम वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख पाते हैं तथा उसके अभाव में बहुधा गलत चीजें सही लगती हैं तथा सही चीजें गलत नजर आती हैं। जैन चिंतकों ने सम्यग्दृष्टि के विषय पर गहन चिंतन किया है तथा वस्तुओं व विचारों को उनके सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होने तो इसके महत्व को रेखांकित करते हुवे यहाँ तक कहा है कि सम्यग्दृष्टि ही धर्म का आधार है, धर्म का मूल है, 'धर्म दर्शन मूलक है।'[3] साथ ही उन्होने यहाँ तक कहा कि किसी सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र-भ्रष्ट हो जाने पर भी उसके मुक्त होने की संभावना बनी रहती है क्योकि वह अपनी सम्यग्दृष्टि के कारण भविष्य में फिर सम्यक्चारित्र में स्थिर हो सकता है किंतु दर्शन-भ्रष्ट व्यक्ति तो कभी भी संसार-मुक्त नहीं हो सकता है, उसके पुनः धर्म-मार्ग पर आने की संभावना अत्यंत धूमिल होती है[4] क्योंकि वह तो गलत को ही सही समझता है। यहाँ हम पुरातनकालीन जैन तत्त्व-दर्शकों द्वारा प्रतिपादित एवं उनके बाद के सहस्रों वर्षों में हुवे आचार्यों व विद्वानों द्वारा व्याख्यायित सम्यग्दर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करेंगे।

दर्शन व सम्यग्दर्शन –

दर्शन से तात्पर्य है किसी प्राणी या व्यक्ति के अच्छे व बुरे में

---

१ श्रेयस, जैन-धर्म : जीवन-धर्म, आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर, २००४, पृष्ठ ६३-११०.

२ Everyone looks at the world outside him through his own peep-hole.

३ "दंसण-मूलओ धम्मो।" – कुंदकुंदाचार्य, दर्शन-पाहुड़

४ "दंसण-भट्ठो भट्ठो।" – कुंदकुंदाचार्य, दर्शन-पाहुड

विवेक कर पाने की क्षमता अथवा यह कि वह वस्तुओं को कैसे, किस दृष्टि से देखता है? सही अर्थों में इसे अंतःबोध व विवेक के समन्वित रूप में देख जा सकता है। इसे प्रकारांतर से अपने पर्यावरण के सामान्य-ज्ञान या सामान्य-बोध के रूप में भी लिया जा सकता है। यहाँ सामान्य-बोध को हमें विशेष-बोध के संदर्भ में लेना होगा जिसे 'ज्ञान' कहा जाता है। अतः सामान्य-बोध दर्शन है तथा विशेष-बोध ज्ञान है। इस प्रकार दर्शनयुक्त प्राणी या व्यक्ति को अपने संपूर्ण पर्यावरण का सामान्य-बोध होता है जब कि ज्ञानयुक्त व्यक्ति उसके कुछ ही अंशों का विशेष ज्ञान रखता है। दर्शन (सामान्य-बोध) व ज्ञान (विशेष-बोध) में यह मौलिक अंतर है। यही सामान्य-बोध (दर्शन) जब सही दृष्टि या सही परिप्रेक्ष्य से समन्वित हो जाता है तो इसे 'सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। यह सुस्पष्ट है कि एक दर्शनयुक्त व्यक्ति की दृष्टि बहुत व्यापक होती है तथा वह किसी भी मामले में अनेक दृष्टिकोणों से विचार कर सकता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं के दर्शनयुक्त व्यक्ति का दृष्टिकोण सारमूलक, पूर्णतावादी या व्यापक होता है। लेकिन धर्म-दर्शन के संदर्भ में सम्यग्दर्शन का अर्थ है धर्म के सिद्धान्तों में दृढ़ व निष्कम्प विश्वास। अतः 'दर्शन' शब्द के हमें दो अर्थ प्राप्त होते हैं - १. सम्यक्-दृष्टि व २. सम्यक्-विश्वास। जैन-दर्शन के अनुसार प्रथम अर्थ में सम्यग्दर्शन का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति को राग व द्वेष से ऊपर उठकर सही परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता। इसका मतलब है कि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति आग्रह व पक्षपात से ऊपर उठ कर सही निर्णय लेने की क्षमता रखता है। दूसरे अर्थ में यह तीर्थंकर-वचन या तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म पर दृढ़ श्रद्धा का समानार्थक है। यहाँ यह माना जाता है कि एक सामान्य मेधा-बुद्धि वाला व्यक्ति इतना प्रज्ञावान् नहीं होता कि वह वस्तुओं को उतने विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देख पाए जितना कि केवली अपने अनंत-दर्शन में देख पाता है अतः आवश्यकता है कि हम अल्प-प्रज्ञा वाले छद्मस्थ तीर्थंकरों द्वारा व्यक्त विचारों पर संपूर्ण, दृढ़ व निष्कंप श्रद्धा रखें। परंपरा से जैन व्याख्याकारों ने दर्शन का दूसरा अर्थ ही बहुधा लिया है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारंभ में ही सूत्रकार वाचक उमास्वाति यह कहते हैं कि 'तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित

तत्त्वार्थों में दृढ़ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।'[1]

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सम्यग्दर्शन का दूसरा अर्थ मनुष्य की विचारशक्ति के विरुद्ध जाता है। उस विचारशक्ति के विरुद्ध जो संज्ञी मनुष्य को असंज्ञी जीवों से अलग पहचान देती है। लेकिन यह कोई ऐसी दुविधा नहीं है जिसका कोई हल न हो। जब तक मनुष्य बहिर्दृष्टि होता है तभी तक उसका विश्वास के साथ विरोध रहता है, ज्यों ही वह अंतर्दृष्टि होकर अपने भीतर झांकने लगता है उसमें श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है तथा वह सब शंकाओं के पार चला जाता है। उसका दर्शन न केवल श्रद्धा का संबल बन जाता है अपितु वह स्वयं मूर्तिमान् श्रद्धा बन जाता है।

सम्यग्दर्शन का महत्व –

सम्यग्दर्शन के लाभों का पूर्ण साक्षात्कार करने के लिये हमें मिथ्या-दर्शन की भयावहता व उससे होने वाली हानियों का जायजा लेना होगा। यह कहा जाता है कि आत्मा के लिये मिथ्यात्व सबसे भयानक रोग है, सबसे गहन अंधकार है, सबसे दुर्दान्त शत्रु है तथा सबसे ज्यादा प्राण-नाशक विष है। मिथ्यात्व सबसे भयानक रोग इसलिये माना गया है कि जहाँ शारीरिक रोग केवल शरीर को रुग्ण करते हैं, मानसिक रोग केवल मन को विकृत करते है, मिथ्यादृष्टि तो आत्मा को ही विकृत कर देती है। यह अंधतम अंधकार कहा गया है क्योंकि जहाँ गहन से गहन अंधकार को हम मात्र एक दीपक जलाकर दूर कर सकते हैं मिथ्यात्व के अंधकार में डूबी हुई आत्मा तो भरी दुपहरी में भी सत्य का दर्शन नहीं कर सकती है। यह सब से शक्तिशाली शत्रु है क्योंकि अन्य शत्रु तो हमारे सांसारिक हितों को ही नुकसान पहुँचाते हैं लेकिन मिथ्यात्व तो आत्मा को अनंत संसार-सागर में भटकाने वाला है। तथा यह सबसे मारक विष है क्योंकि यह शरीर को नहीं वरन् आत्मा को मारता है।

---

[1] तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।। – तत्त्वार्थसूत्र, १.२

जैसा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान दर्शाता है, इसकी महत्ता को बहुत पहले से अनुभव कर लिया गया था। तत्त्वार्थसूत्र के मोक्ष-मार्ग विषयक सूत्र से स्पष्ट है कि मुक्ति-मार्ग के तीन अवयव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इसी क्रम में हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रत्येक प्राणी का अंतिम उद्देश्य इस दुःखमय संसार से मुक्ति पाना है। जो भी इस महत्कार्य में प्राणी की सहायता करे वह महत्त्वपूर्ण है। फिर यह सोचना भी तर्कसंगत है कि कोई भी व्यक्ति धर्म का पालन करके संसार से मुक्त हो सकता है, उसे इन सब झमेलों में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यहाँ भी सम्यग्दर्शन का महत्व इस बात में है कि वह स्वयं ही धर्म का मूल है। आखिर मूल को सिंचित किये बिना किसी वृक्ष की छाया का आनंद कब तक लिया जा सकता है? एक अन्य तर्कानुसार नैतिकता से युक्त सदाचरण (सम्यक्चारित्र) के पालन से मुक्ति संभव है। यहाँ भी तर्क ही हमें यह भी कहता है कि सम्यक्चारित्र क्या है? इसका ज्ञान तो हमें सम्यग्ज्ञान से ही होता है जो सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही संभव है। जब सूचना का समन्वय परिप्रेक्ष्य से होता है तो वह ज्ञान बनती है। जब तक सूचना को सम्यग्दर्शन के द्वारा प्राप्त सही परिप्रेक्ष्य से संयुक्त नहीं किया जाय वह सूचना ही रहती है, मेधा के साथ मिल कर सम्यग्ज्ञान नहीं बन पाती है। परिप्रेक्ष्य ही सूचना को ज्ञान में परिवर्तित करता है तथा सम्यग्दर्शन द्वारा प्राप्त सही परिप्रेक्ष्य उसे सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित कर देता है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन की तीसवीं गाथा में वर्णित कथन कि 'सम्यक्तव के बिना ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होता है, चारित्र-गुण के बिना मोक्ष नहीं होता है तथा मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता है'[1] में बहुत सार है।

---

[1] ''नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण-गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।'' - उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३०

सम्यग्दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक पक्ष यह है कि वह साधक को पाप-मुक्त रखता है। सर्वप्रथम जैन अंग-आगम - आचारांग में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि (जीव) कोई पाप नहीं करता है।[१] ऐसा मानने के कई कारण हैं -

१. प्रथमतः तो सम्यग्दृष्टि साधक वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखता है। तत्त्वार्थों के बारे में उसकी दृष्टि यथार्थ-दृष्टि होती है। वह सजीव व अजीव के भेद को भली-भाँति देख सकता है तथैव स्वयं की आत्मा का लोक के अन्य प्रणियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाता है और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा वह स्वयं के प्रति किया जाना पसंद करता है तथा जैसा व्यवहार वह स्वयं के प्रति किया जाना पसंद नहीं करता है वैसा व्यवहार वह दूसरों के प्रति भी नहीं करता है, वह अहिंसक हो जाता है। अंततः यही तो धर्म का सार है।

२. दूसरे, ऐसा साधक स्वयं के कषायों पर विजय पा लेता है तथा अपने आवेगों पर नियंत्रण कर पाता है, वह पाप-कार्यों से विमुख रहता है।

३. वह आत्मा व शरीर के द्वित्व को भली-भाँति समझ लेता है तथा भौतिकता व आधिभौतिकता में अंतर कर पाता है। वह अपने आध्यात्मिक हितों के रक्षण के प्रति जागरूक रहता है तथा पापक-कर्मों से विरत रहता है।

४. वह संसार के दुःखद स्वरूप को अनुभव कर सकता है तथा इससे मुक्ति के लिये प्रयत्नरत रहता है।

५. उसका विरक्त स्वभाव उसे कई पापों से दूर रखता है।

६. सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि के प्रति उसका दृष्टिकोण यथार्थ होता है तथा वह उनसे अप्रभावित रहता है। अतः वह अवसाद, क्रोध, बदले, आदि की भावना से संचालित नहीं होता है

---

[१] "सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।।" - आचारांग

जो अंततः व्यक्ति को पापक-कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

७. उसका विकसित विवेक उसे सही व गलत में भेद करने की योग्यता देता है तथा वह सदैव गलत को छोड़कर सही को चुनता है।

८. उसे जीवन की क्षणिकता का आभास होता है, अतः वह अपने जीवन को पापक सांसारिक भोग-विलास में न गंवा आध्यात्मिक हितसाधन में लगाता है।

९. वह सांसारिक भोग-विलास की निरर्थकता व अंततः उनके द्वारा मिलने वाले क्लेश के प्रति सजग होता है अतः भोगमय जीवन त्याग देता है।

१०. उसके क्रिया-कलाप उसके विचारों के प्रतिबिम्ब होते हैं, जो सर्वदा पवित्र व आध्यात्मिक होते हैं।

११. सम्यग्दृष्टि साधक अपने जीवन में एक ही भय को मानता है और वह है पाप का भय। उसकी यह पाप-भीरुता ही उसे सद्गुणी व सदाचारी बनाती है।

सांसारिक दृष्टि से भी सम्यग्दृष्टि की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता है। दृष्टि या परिप्रेक्ष्य किस प्रकार व्यक्ति की मानसिकता को परिवर्तित कर देता है इसे हम निम्नांकित बौद्ध जातक-कथा से समझ सकते है। -

एकदा एक वृद्धा के एकमात्र पुत्र का देहावसान हो गया। अपने प्रगाढ वात्सल्य के कारण वृद्धा अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु के सत्य को स्वीकार न कर सकी तथा उसकी चिकित्सा कर रहे वैद्य से बारंबार उसका उपचार करते रहने तथा उसे बचा लेने का अनुरोध करने लगी। वह न केवल जार-जार रो रही थी वरन् अपने मृत पुत्र के शव को अंतिम संस्कार के लिये भी नहीं ले जाने दे रही थी। बुद्धिमान् वैद्य ने उसे सलाह दी कि वह समीप ही वास कर रहे भगवान् बुद्ध के पास जाए तो संभवतया वे उसके पुत्र को बचालें। वृद्धा ने भगवान् बुद्ध के पास जाकर निवेदन किया कि वे उसके पुत्र को स्वस्थ कर दें। भगवान् बुद्ध ने यह

अनुमान लगा लिया कि वृद्धा की जो मानसिक स्थिति थी उसमें यदि उन्होंने उससे स्पष्ट कह दिया कि उसके पुत्र का देहान्त हो गया है तो हो सकता है कि वह उनकी भी बात मानने से मना करदे। अतः उन्होंने उससे कहा कि वह गॉव मे जाकर ऐसे घर से एक मुट्ठी सरसों ले आए जिसमें कभी किसी की मृत्यु न हुई हो। ''तुम जैसे ही वह सरसों ले आओगी मैं तुम्हारे पुत्र को अच्छा कर दूंगा'', उन्होंने वृद्धा से कहा।

वृद्धा दौड़ती हुई गॉव के पहले ही घर में गई और सरसों मांगी तो गृहिणी ने तुरंत ही लाकर दी किंतु जब वृद्धा ने पूछा कि इस घर में कभी कोई मरा तो नहीं तो गृहिणी ने कहा कि उस घर में तो उसके सास, श्वसुर, जेठ आदि बहुत से लोगों की मृत्यु हो चुकी है। निराश होकर वृद्धा दूसरे, तीसरे, आदि गॉव के सभी घरों से निराश ही लौटी क्योंकि वहॉ भी किसी न किसी की मृत्यु हुई थी। हताश होकर वह वहॉ आई जहॉ भगवान् बुद्ध बिराजमान थे और कहा कि वह सरसों नहीं ला सकी क्योंकि पूरे गॉव में एक भी ऐसा घर नहीं था जिसमें किसी न किसी की मृत्यु न हुई हो।

तब भगवान बुद्ध ने उसे जीवन और मृत्यु का सत्य बताया और कहा, ''जो भी जन्म लेता है वह अवश्य मरता है, यही प्रकृति का नियम है। तुम्हारा पुत्र भी जन्मा और उसने अपना जीवन जी लिया, अब उसकी मृत्यु हो चुकी है। मृत्यु से आज तक कोई नहीं बच सका है।''

उस अनुभव ने मृत्यु के बारे में वृद्धा की दृष्टि बदल दी। जिस पुत्र की मृत्यु कुछ समय पहले तक असहनीय लग रही थी, वह दृष्टि परिवर्तन के पश्चात अब उतनी असहनीय नहीं रह गई थी।

सम्यक्त्व के सूचक लिंग –

सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन को धर्म का आधार कहा गया है। दर्शन मिथ्या और सम्यक् दो प्रकार का हो सकता है। यद्यपि यह एक अव्यक्त और आंतरिक तथ्य है, इसके कुछ बाह्य सूचक होते हैं। दिगंबर जैन परंपरा के अनुसार सम्यक्त्व के निम्न आठ बाह्य सूचक या लिंग हैं: –

१. संवेग – मुक्ति की अदम्य चाह,

२. निर्वेद – मुक्ति के अतिरिक्त सबसे विरक्ति,

३. निंदा – मिथ्यात्व के प्रति निंदा का भाव,

४. गर्हा – असम्यक्त्व के प्रति तिरस्कार का भाव,

५. उपशम – कषायों का शमन,

६. भक्ति – देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति-भाव,

७. वात्सल्य – सभी सद्धार्मिकों के प्रति निःस्वार्थ वात्सल्य का भाव, तथा

८. अनुकम्पा – दीन-दुःखियों के प्रति करुणा व उनका दुःख दूर करने की तत्परता।

इन आठ सम्यक्तव-लिंगों का समावेश श्वेताम्बर परंपरा के ग्रंथों में उल्लिखित निम्न पॉच लिंगों में हो जाता हैः –

१. शम – उपशम जिसमें निंदा व गर्हा का भी समावेश हो जाता है,

२. संवेग – इसमें वात्सल्य व भक्ति भी समाविष्ट हैं,

३. निर्वेद – संसार से विरक्ति का भाव,

४. अनुकम्पा – दीन-दुःखियों के प्रति करुणा व उनका दुःख दूर करने की तत्परता, तथा

५. आस्तिक्य – सर्वज्ञ प्ररूपित सद्धर्म में दृढ़ श्रद्धा।

प्रशम और उपशम –

क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों का संपूर्ण शमन व उससे प्राप्त *आत्मिक शान्ति प्रशम है। उपशम का अर्थ है इन कषायों का आंशिक*

शमन तथा यह प्रशम का ही भाग है। जब तक दीर्घ-काल तक बने रहने वाले अनंतानुबंधी कषायों का शमन नहीं हो जाता है तब तक जीव वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाता है क्योंकि ऐसे दुराग्रही कषाय सम्यग्दृष्टि को आच्छादित करते हैं। इन अनंतानुबंधी कषायों का शमन होने पर ही जीव वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख पाने की योग्यता प्राप्त करता है। यही मिथ्यात्व का अंत व सम्यक्त्व का उदय है। जब प्रशम की स्थिति बन जाती है तो साधक अनंत-ज्ञानोदय या आत्म-साक्षात्कार के समीप होता है। पंचलिंगीप्रकरण में शास्त्रकार ने अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि उपशम का अर्थ है मिथ्यात्त्व का शमन नकि कषाय का उपशमन। क्योकि व्यक्ति के बाह्य लक्षण उसकी आंतरिक दशा के सूचक होते हैं, शम या उपशम उसके सम्यक्त्व से सुशोभित होने या मिथ्यात्व से ग्रस्त होने का महत्वपूर्ण संकेतक है।

संवेग -

सम्यक्त्व का दूसरा सूचक है संवेग या इस दुःखमय व आध्यात्म-बाधक संसारी जीवन से मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। आत्म-शुद्धता प्रत्येक जीव की स्वाभाविक दशा है तथा इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि हरएक प्राणी अपनी उस स्वाभाविक दशा को उसी प्रकार प्राप्त करना चाहता है जैसे कि कोई यात्री लंबी व थका देने वाली यात्रा के पश्चात् घर पहुँचना चाहता है। जैसे कि प्रत्येक ऐसे यात्री के लिये, जो कि खानाबदोश नहीं है, अपने घर पहुँचने की इच्छा करना स्वाभाविक है उसी प्रकार सभी आत्माओं के लिये, जो कि स्थाई रूप से मिथ्यात्वी (अभव्य) नहीं हैं, संसारीपन से मुक्त होकर निर्वाण रूपी स्वगृह जाने की इच्छा करना स्वाभाविक ही है।

निर्वेद -

निर्वेद वह मानसिक स्थिति है जिसमें साधक निरंतर यह अनुभव करता है कि उसका संसारी अस्तित्व एक ऐसा कारागृह है जिसमें उसे कैद कर लिया गया है। वह संसार परिभ्रमण में हुए नरक-तिर्यंच गतियों में

होने वाले दुःखों का चिंतन करता है; वह न केवल पूर्वजन्मों व वर्तमान में भोगे जा रहे दुःखों का अपितु भविष्य के दुःखों का भी चिंतन करता है। वह आत्मिक संदर्भ में सांसारिक संबंधों व ऐहिक जीवन की निरर्थकता को अनुभव करता है तथा वह सांसारिकता के प्रति विरक्त और उदासीन हो जाता है। यह विरक्ति और उदासीन वृत्ति उसकी हर क्रिया में परिलक्षित होती है। संसार में रहते हुवे वह वह सब-कुछ करता है जिसकी उससे अपेक्षा की जाती है किंतु केवल कर्तव्य-भावना वश, न कि उसमें आसक्त होकर स्वेच्छापूर्वक। यह उदासीन-वृत्ति एवं विरक्ति ही सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है।

अनुकम्पा -

अनुकम्पा या दीन-दुःखियों के प्रति संवेदना या करुणा का भाव तथा उनके कष्ट-निवारण में तत्परता का होना सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। वह साधक जो अनुकम्पा भाव से आपूरित है वह न केवल उनके दुःख-दर्द से दुःखी होता है अपितु वह उनके दुःखों को दूर करने के उपाय भी करता है। साथ ही वह इस बात से भी अवगत होता है कि संसारिक जीवन में रहते हुवे कर्म-बंधनों के कारण उसकी स्वयं की आत्मा भी कितने दुःख में है तथा जहाँ वह सांसारिक दृष्टि से परदुःखकातर होता है वहीं आध्यात्मिक दृष्टि से स्वदुःखकातर भी होता है।

आस्तिक्य -

अंततः सम्यग्दृष्टि साधक को उसके आत्मा के अस्तित्व व सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रतिपादित सद्धर्म में दृढ़ व अडिग श्रद्धा से पहचाना जा सकता है। उसे नौ तत्त्वों, अधोलोक की सात नरक भूमियों, स्वर्गलोक के देवविमानों, मध्य-लोक के मनुष्य व तिर्यंच तथा प्राणीमात्र के चरम लक्ष्य रूप सिद्धशिला के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास होता है। यह दृढ़ विश्वास ही उसे सही रास्ते पर रखता है तथा उसे मोक्ष-मार्ग का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करते हुवे संसार-मुक्त होकर सिद्ध-शिला पर स्थित सिद्धलोक में पहुँचने की इच्छाशक्ति प्रदान करता है।

सम्यक्त्व के चार अंग –

जीवन के वास्तविक व परम अर्थ को पहचानना (परमार्थ-संस्तव), जिससे तात्पर्य है सम्यक् धर्म-मार्ग, इसे प्ररूपित करने वाले तीर्थंकरों, तथा इसे प्रचारित-प्रसारित करने वाले श्रमण वर्ग के प्रति पूर्ण श्रद्धा-समर्पण; ऐसे दृष्ट क्रिया-कलापों का आचरण जिनसे उपरोक्त सम्यक् धर्म-मार्ग, इसे प्ररूपित करने वाले तीर्थंकरों, तथा इसे प्रचारित-प्रसारित करने वाले श्रमण वर्ग के प्रति भक्ति-भाव प्रकट हो (सुदृष्ट परमार्थ-सेवना); भ्रष्ट प्रज्ञा वालों के साथ से बचना (व्यापन्न-वर्जना) तथा मिथ्यादृष्टियों के सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करना (कुदर्शन-वर्जना) ये सम्यग्दर्शन के चार अंग हैं। हितकारी सम्यग्दर्शन के ये चारों अंग अक्षुण्ण होने चाहिये। इनमें से एक भी अंग का अक्षत न होना सम्यग्दर्शन के अंग-भंग के समान है।

सम्यक्त्व आध्यात्ममार्गी के लिये दृढ़ संबल के रूप में श्रद्धा-विश्वास रूप होता है। उसके गुण-दोष भी इसकी इसी व्याख्या के अनुरूप हैं। सम्यक्त्व के आठ दोष व उनके निवारक गुण निम्नानुसार हैं:[1]

क्रम	सम्यक्त्व के दोष	सम्यक्त्व के गुण
१.	शंका – जिन-वचनो पर शंका,	निःशंकित – शंका-मुक्ति,
२.	कांक्षा – सांसारिक भोगों की इच्छा,	निःकांक्षित – इच्छा-मुक्ति,
३.	विचिकित्सा – आध्यात्म अरुचि,	निर्विचिकित्सा – आध्यात्मरुचि,
४.	मूढदृष्टि – धर्म-बोध का अभाव,	अमूढदृष्टि – धर्म-बोधगम्यता,
५.	अनुपगूहन – धर्म-अरक्षणता,	उपगूहन – धर्म-रक्षणता,
६.	अस्थितिकरण – धर्मच्युतों के प्रति उपेक्षाभाव,	स्थितिकरण – धर्म-च्युतों को धर्म में पुनः स्थिर करना,

---

[1] १. उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३१.
२. श्रमणप्रतिक्रमणसूत्र, ६.
३. पाक्षिकादि अतिचार (दर्शनाचार के आठ अतिचार), २.

७.	अवात्सल्य - साधर्मिकों के प्रति अनुराग का अभाव,	वात्सल्य - साधर्मिकों के प्रति स्वाभाविक अनुराग,
८.	अप्रभावना - धर्मोन्नति के लिये प्रयासरत नहीं रहना।	प्रभावना - धर्मोन्नति के लिये प्रयासरत रहना।

सम्यग्दर्शन के प्रकार -

सम्यक्त्व के प्रकट होने के हेतु से यह दो प्रकार का हो सकता है - १. *निसर्ग सम्यक्त्व* जो स्वतः प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता है तथा २. *अधिगम सम्यक्त्व* जो किन्हीं बाह्य प्रकरणों से उत्पन्न होता है। इन्हें निम्न दस वर्गों में बाँटा गया हैः -

१. निसर्गरुचि सम्यक्त्व - ऐसा सम्यक्त्व जो स्वतः पूर्व-स्मरणादि से उत्पन्न हो निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

२. उपदेशरुचि सम्यक्त्व - जो किसी अन्य के उपदेश से उत्पन्न हो वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।

३. आज्ञारुचि सम्यक्त्व - आज्ञा का अर्थ है भगवान जिनेश्वर देवों के वचन। जो सम्यक्त्व जिन-वचनो के श्रवणादि से उत्पन्न हो आज्ञारुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

४. सूत्ररुचि सम्यक्त्व - आगम-शास्त्रादि धर्म-ग्रंथों के अध्ययन-श्रवण आदि से उत्पन्न हुवा सम्यक्त्व सूत्ररुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

५. बीजरुचि सम्यक्त्व - आंशिक सम्यक्त्व के बीज से संपूर्ण सम्यक्त्व का प्राप्त होना बीजरुचि सम्यक्त्व है।

६. अभिगमरुचि सम्यक्त्व - आगम-शास्त्रों के अर्थ के स्पष्ट होने पर उत्पन्न सम्यक्त्व अभिगमरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

७. विस्ताररुचि सम्यक्त्व - आगम-व्याख्या साहित्य के पारायणोपरांत उत्पन्न होले वाला *सम्यक्त्व विस्ताररुचि सम्यक्त्व कहलाता है।*

८. क्रियारुचि सम्यक्त्व - धर्म-क्रियाओं के करने से जो सम्यक्त्व

उत्पन्न होता है वह क्रियारुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

९. संक्षेपरुचि सम्यक्त्व – संक्षेप में यह समझ में आजाना कि सर्वज्ञ जिनेश्वर देवों ने जो भी उपदेश दिया है वह हितकारी व मोक्षदायक है संक्षेपरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।

१०. धर्मरुचि सम्यक्त्व – जिन प्रतिपादित धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रूप सम्यक्त्व धर्मरुचि सम्यक्त्व है।

वर्तमान काल में सम्यक्त्व प्राप्ति व उसे सुरक्षित रखने के साधन हैं – सुगुरु व सुशास्त्रों प्रति श्रद्धा-भक्ति व उनका उपदेश-श्रवण व पठन-पाठन।

प्राप्त सम्यक्त्व के अस्थायित्व या स्थायित्व के हेतु से यह सात मिथ्यात्व-कारणों के उपशम, क्षयोपशम (कुछ कारणों के क्षय तथा अन्य कारणों के उपशम) या संपूर्ण क्षय के आधार पर निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है –

१. औपशमिक सम्यक्त्व – (१-४) चार अनंतानुबंधी-कषायों – अनंतानुबंधी-क्रोध, अनंतानुबंधी-मान, अनंतानुबंधी-माया व अनंतानुबंधी-लोभ; ५. मिथ्यादृष्टिजनक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म, ६. सम्यक्मिथ्यादृष्टिजनक मिश्रमोहनीय कर्म तथा ७.सम्यग्दृष्टि को आवृत्त करने वाले सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उपशम से स्वल्प काल के लिये प्रकट होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक-सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व अस्थाई होता है तथा इसकी अधिकतम स्थिति एक अंतर्मुहुर्त (४८ मिनट से कम)[1] की होती है। इस प्रकार का सम्यक्त्व मोहनीय कर्मों के उदय में आने पर तथा अनंतानुबंधी-कषायों के प्राकट्य से पुनः लुप्त हो जाता है।

२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व – इन्हीं सात कारणों में से कुछ के क्षय व

---

[1] १ मुहुर्त का काल-मान ४८ मिनट का होता है अतः एक अंतर्मुहुर्त ४८ मिनट से कम काल-मान का होता है।

अन्यों के उपशम से अस्थाई रूप से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहलाता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम की होती है।

३. क्षायिक सम्यक्त्व - यह सात मिथ्यात्व-कारणों के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न वह स्थाई सम्यक्त्व होता है जो एक बार प्रकट होने पर पुनः लुप्त नहीं होता है।

व्यवहार-नय व निश्चय-नय के हेतु से भी सम्यक्त्व को दो वर्गों में रखा गया है। यथाः -

१. निश्चय-सम्यक्त्व - यह एक स्थिति विशेष है जो केवल भावना के स्तर पर होती है। इसके कोई बाह्य सूचक लक्षण नहीं होते हैं तथा इस स्थिति में साधक केवल स्वात्म को ही समस्त आध्यात्मिक गुणों का आधार मान कर आत्म-गवेषणा द्वारा ही उन्हें प्रकट करने के लिये केवल उसी (निजात्मा) पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

२. व्यवहार-सम्यक्त्व - यह वह दृष्ट सम्यक्त्व है जिसके लक्षण प्रकट रूप में सुदेव, सुगुरु व सद्धर्म पर श्रद्धा-भक्ति के रूप में दिखाई देते हैं।

अंत में हम उन कारणों की समीक्षा करते हैं जो कि सम्यक्त्व को दृढ़ या क्षतिग्रस्त करते हैं।

जो पॉच कारण सम्यक्त्व को दृढ़ करते हैं वे हैं -

१. स्थिरता - जिन प्रतिपादित धर्म पर अडिग विश्वास रखना तथा उसका दृढ़ता से पालन करना स्थिरता है।

२. प्रभावना - सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को सदैव धर्म की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा जो भी शंकाएँ हों, चाहे स्वधर्मानुयाइयों द्वारा अथवा अन्य तीर्थियों द्वारा उठाई जाय, उनका सम्यक् समाधान करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

३. भक्ति – सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को सदैव धर्म के तीन स्तंभों – देव (धर्म-प्रवर्तक जिनेश्वर-देव, तीर्थंकर-देव), गुरु (वर्तमान में धर्मोपदेश देने वाले श्रमण) व धर्म (जिन-प्रतिपादित धर्म) के प्रति श्रद्धा व भक्ति-भाव से ओतप्रोत रहना चाहिये।

४. कौशल – सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को धर्म-सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान अर्जित करना चाहिये ताकि कभी भी कहीं भी धर्म पर कोई आक्षेप किया जाय तो उसका सम्यक् प्रतिवाद किया जा सके। तथा

५. तीर्थसेवा – सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को धर्म-तीर्थ के चारों अंगों – साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की समुचित सेवा देखभाल करनी चाहिये ताकि किसी के मन में कभी भी ग्लानि या अरति का भाव पैदा न हो।

इन पॉच साधनों द्वारा सम्यग्दर्शन को न केवल प्रोत्साहन मिलता है अपितु उसकी संरक्षा-सुरक्षा भी होती है।

दूसरे वे पॉच कारण जिनसे सम्यग्दर्शन की हानि होती है, वे हैं –

१. शंका – जिन-वचनों पर शंका व अविश्वास सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं। कई बार ऐसा होता है कि हम किसी चीज को समझ नहीं पाते हैं तथा उसकी सत्यता पर शंका और अविश्वास करने लगते हैं। श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता इसी में है कि ऐसे अवसरों पर हम सर्वज्ञ तीर्थंकरों के वचनों पर शंका करने के बजाय स्वयं के स्वल्प-ज्ञान की सीमा व नासमझी को ही दोष दें।

२. कांक्षा – कांक्षा का अर्थ है सांसारिक भोगों की लालसा या उनके लिये लालायित होना। कई बार ऐसा होता है कि हम कुछ प्रलोभनों की ओर आकर्षित होते हैं तथा मिथ्या धर्म-दर्शनों के जाल में फँस जाते हैं। सम्यग्दृष्टि साधक को हर क्षण इस प्रकार के प्रलोभनों से अपने आप को बचाने के प्रति सावधान रह कर

यह विचार करना चाहिये कि सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म के समान हितकारी अन्य कोई भी धर्म नहीं हो सकता है तथा ऐसा सोच कर स्व-धर्म, स्व-सम्यक्त्व के प्रति आस्थावान बने रहना चाहिये। ऐसे विचारवान साधक को कभी भी सांसारिक हित-लाभ के लिये भी अन्य मिथ्यावादियों की ओर देखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

३. विचिकित्सा - स्व-धर्म पालन के फल के प्रति सशंकित होना विचिकित्सा है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भी हमारे किये गए पुण्य व पाप कर्म तुरंत फलदायी नहीं होते हैं। कर्म करने व उसका फल मिलने के बीच एक समयान्तराल होता है जिसे 'अबाधाकाल' कहते हैं। कोई भी कर्म अबाधाकाल के पश्चात ही उदय में आकर फल देता है। अतः यदि हमें अपने पुण्य-कर्मों का फल तुरंत प्राप्त न हो अथवा पुण्य करते हुवे भी दुःखद फल-विपाक प्राप्त हो तो हमें निराश नहीं होना चाहिये अपितु यह सोचना चाहिये कि वर्तमान में हमारे अशुभ कर्मों का उदय चल रहा है और हमारे शुभ-कर्म भी समय आने पर निश्चित रूप से फल देंगे ही। यह निराशा का भाव व इसके परिणाम स्वरूप हमारे मन मे धर्म-फल के प्रति उत्पन्न शंका ही विचिकित्सा है जिससे हमें दूर रहना चाहिये।

४. परपाषंड-प्रशंसा (परदर्शन के प्रति प्रशंसा भाव) - सामान्यतया यह देखा जाता है कि घटिया माल बढिया पेकिंग में आता है। मिथ्यादर्शन भी इसी प्रकार बहुत बढिया ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं तथा भोले-भाले लोग उनकी ओर आकर्षित होकर उनकी प्रशंसा करते हुवे उनके जाल में फँस जाते हैं। एक सम्यग्दृष्टि साधक को इस प्रकार के मायाजाल को समझने में सक्षम होना चाहिये तथा सत्य-पक्ष को नहीं छोड़ना चाहिये। अगर उसका विवेक जागृत है तो उसे कोई भी मिथ्यादर्शन, चाहे वह कितना ही आकर्षक क्यों न हो, प्रशंसनीय नहीं लगेगा तथा उसे सम्यग्दर्शन से नहीं डिगा पाएगा।

५. परपाषंड-संस्तव (परदर्शन का परिचय) - जब हम किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के निरंतर संपर्क में आते रहते हैं तो अक्सर अपरिपक्व मस्तिष्क में उनके प्रति गुण-दोषों का आकलन किये बिना ही आकर्षण पैदा होने लगता है। बहुत पुरानी कहावत है - 'परिचय से प्रगाढता बढती है।' अतः हम किस प्रकार के व्यक्तियों व विचारों से परिचित होते हैं इस बारे में हमें अत्यंत सावधान रहना चाहिये। मिथ्यादर्शनों से परिचय से सम्यक्त्व की हानि होकर स्वयं की दृष्टि विकृत होने की ही संभावना बनती है, अतः ज्ञानियों ने अपरिपक्व साधकों के लिये अन्य दर्शनों से परिचय में सावधानी बरतने का आदेश दिया है। इसका एक और पक्ष भी है - व्यक्ति अपने साथियों से जाना जाता है, उसकी प्रतिष्ठा या निंदा में उसके संगी-साथियों का भी बहु बड़ा हाथ होता है। अतः इस लौकिक कारण से भी मिथ्यादर्शनियों से संपर्क रखना त्याज्य है।

अंत में सम्यग्दर्शन के बारे में यही कहना उचित होगा कि 'सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी अच्छी है।'[१]

पंचलिंगीप्रकरणम् : समीक्षात्मक परिचय

सामान्य परिचय : 'पंचलिंगीप्रकरणम्' सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का विवेचन करने वाला खरतरगच्छ के आद्याचार्य श्रीमज्जिनेश्वरसूरि द्वारा विरचित एक अद्‌भुत ग्रंथ है जिसमें गाथा संख्या १ में सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का नामनिर्देश किया गया है; गाथा संख्या २ से १३ तक उपशमलिंग पर, गाथा संख्या १४ से ३२ तक संवेगलिंग पर, गाथा संख्या ३३ से ५२ तक निर्वेदलिंग पर, गाथा संख्या ५३ से ७७ तक अनुकम्पालिंग पर, व गाथासंख्या ७८ से १०० तक आस्तिक्यलिंग पर गहन विश्लेषणात्मक चिंतन किया गया है।

---

१ शिवार्य, भगवती आराधना, ७४२.

ग्रंथ की भाषा व शैली : इस ग्रंथ की रचना जैन महाराष्ट्री प्राकृत में गाथा छंद में एक सरस काव्यात्मक कृति के रूप में की गई है।

ग्रंथ का आकार : यह ग्रंथ १०१ गाथाप्रमाण है। इसके सटीक संस्करण में १८७ पत्रक हैं।

ग्रंथ का रचनाकाल : यद्यपि इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में कोई निश्चित तिथि प्राप्त नहीं होती है, फिर भी प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इसका रचनाकाल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि का अंतिम चतुर्थांश ठहरता है।

उपलब्ध प्रति : इस ग्रंथ की उपलब्ध प्रति का प्रकाशन श्रीमदर्हत्सिद्धांत पारंगत श्रीमज्जिनपतिसूरिविरचित वृहद्वृत्ति टीका सहित व उपाध्याय श्री जिनपालगणि संकलित टिप्पणियों से समालंकृत श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड द्वारा अर्हम् ग्रंथांक १० के रूप में आचार्य कृपाचंदजी महाराज, नवा उपासरा, गोपीपुरा, सूरत द्वारा सन् १९१९ में हुआ है।

पंचलिंगीप्रकरणम् की विषयवस्तु –

इस ग्रंथ की विषयवस्तु सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का विवेचन है। शास्त्रकार नें प्रथम गाथा में ही सम्यक्त्व के पाँच लिंगों – उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, व आस्तिक्य – का नामनिर्देश किया है, तथा यह भी इंगित किया है कि यह ग्रंथ गाथा छंद में निबद्ध है।[१]

उपशमलिंग : दूसरी से तेरहवीं गाथाओं में प्रथम सम्यक्त्वलिंग – उपशम का विवेचन करते हुए आचार्य विभिन्न तर्कों से यह सिद्ध करते हैं कि मिथ्याभिनिवेश का उपशम न कि अनन्तानुबंधी कषायों का उपशम सम्यक्त्वलिंग है।[२] उनके अनुसार अतत्त्व के प्रति रुचि मिथ्यात्व का

---

१ पंचलिंगीप्रकरणम्, १.

२ वही, २.

लक्षण है, अनन्तानुबंधी कषाय का नहीं।[१] शास्त्रकार के अनुसार मिथ्याभिनिवेशक चेष्टा सूत्रविरुद्ध, गीतार्थों के विपरीत, अनाचीर्ण व मिथ्यात्वसाधिका है।[२] गुणियों का अपहरण, अपवादपदों का आलम्बन, सद्ज्ञान का अभिमान, गीतार्थनिषिद्ध तत्त्व का ग्रहण व धूर्ततापूर्वक अपने पक्ष को सिद्ध करने की युक्तियाँ असद्ग्रह हैं तथा जनरंजन के लिये की जाने वाली क्रियाएँ सम्यक्त्व की बोधक नहीं होती हैं।[३]

संवेगलिंग : ग्रंथ की चौदहवीं से बत्तीसवीं गाथाओं में संवेग नामक द्वितीय सम्यक्त्वलिंग का विवेचन किया गया है। प्रारंभ में ही बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव कर्मवशात् विषयासक्त होते हुए भी उनका स्वरूपचिंतन करने से मन से विरक्ति का इच्छुक होता है।[४] विषय भोगते समय सुखकर होते हुए भी अंततः दुःखदायी होते हैं।[५] इस विषयेच्छा के वशीभूत होकर जीव कीटवत् मल-मूत्रद्वार में क्रीड़ारत होता है तथा आरंभ, परिग्रह, आदि के लिये अनेक कष्टों को भोगता है व पापबंध भी करता है जिससे उसे नरक-तिर्यंच गतियों में अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं।[६] विषयों की हेयता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यदि विषय उपादेय होते तो चक्रवर्ती, बलदेव, आदि महापुरुष उनका त्याग क्यों करते? विषयों की तो इच्छा मात्र ही भवभ्रमणकारी है।[७] मोक्षसुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वह प्रशमसुख से भी अनन्तगुण सुखकारी है।[८] इसीलिये साधुपुरुष आस्रवरोधी व

---

१ वही, ३.
२ वही, १०.
३ वही, ११-१३.
४ वही, १४.
५ वही, १५.
६ वही, १६-१८.
७ वही, १९-२०.
८ वही, २२-२३.

तपपूर्वक निर्जरा करने वाले होते हैं।[1] गुणियों का बहुमान करने वाला व स्त्री-पुत्रादि में मंदस्नेहवाला साधक जिनशासन की प्रभावना करने वाला होता है; वह सांसारिक अभ्युदय से हर्षित नहीं होकर आरंभ-समारंभ में होने वाले सावद्यकर्म के लिये पश्चाताप करता है।[2] अपनी धन-संपदा के प्रति भी उसकी अनासक्ति के कारण वह उतने मात्र को ही सार्थक मानता है जितनी कि वह देव-गुरु के प्रति अर्पण करता है, शेष को वह अनर्थकारी व भववर्द्धक मानता है।[3]

निर्वेदलिंग : ग्रंथ की तेतीसवीं से बावनवीं गाथाओं में तृतीय सम्यक्त्वलिंग - निर्वेद का विवेचन है। इसके प्रारंभ में ही सम्यग्दृष्टि जीव के संसार के गहन दुःखों से उद्विग्न होकर विरक्ति के बारे में विचार करने का उल्लेख करते हुए उसके द्वारा अनेक बार चतुर्गति में भ्रमण करते हुए नरक-तिर्यंचादि गतियों में दुःसह दुःख भोगने का वर्णन है।[4] आत्मा मिथ्यावादि कारणों से अनन्त कर्मों का बंध करता है जिससे वह असंख्यात काल तक नरकों में कुंभीपाकादि अग्नियों में पकाया जाता है; नरक से निकलकर वह तिर्यंचगति व वहाँ से फिर नरकगति में उत्पन्न होता है।[5] अशुभ कर्मोदय से मनुष्य जन्म में भी वह हीन कुल-जाति में पैदा होकर दुष्प्रयुक्त होने का दुःख भोगता है, अनेक व्याधियों से ग्रस्त होता है, गरीबी की मार झेलता है, इष्टवियोग व अनिष्टयोग की पीड़ा भोगता है, तथा चिंता-संतापादि से अत्यंत दुःखी होकर मरता है।[6] देवगति में भी उसे च्यवनोपरांत तिर्यंचगति में उत्पन्न होने का भय सताता है, अतः सम्यग्दृष्टि आत्मा भूत, वर्तमान व भविष्य काल में भी भवभ्रमण में होने वाले कष्टों का चिंतन करता

---

१ वही, २४.

२ वही, २९-३०.

३ वही, ३१.

४ वही, ३३-३४.

५ वही, ३५-३८.

६ वही, ३९-४२.

हुआ संसार से विरक्ति का अनुभव करता है।[1] वह संसार की अनित्यता, अशरणता आदि का चिंतन करता हुआ महान दुःख का अनुभव करता है, व विरक्ति को प्राप्त होता है।[2] वह सांसारिक बंधनों के त्यागी साधुओं को धन्य मानता है, तथा सांसारिक सुखों का भोगोपभोग करता हुआ भी उनमें आसक्ति नहीं रखता है।[3] वह सम्यग्दृष्टि साधक इस प्रकार की निर्वेद भावना वाला होता है।[4]

अनुकम्पालिंग : ग्रंथ की ५३वीं से ७७वीं गाथाओं में चतुर्थ सम्यक्त्वलिंग – अनुकम्पा का विवेचन किया गया है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अनुकम्पावान होता है। वह सदैव दूसरों के दुःख दूर करने के बारे में विचार करता रहता है तथा सोचता है कि उसे भव्य जीवों का संसार-दुःख दूर करके उन्हें मुक्ति दिलाने का उपाय करना ही चाहिये।[5] वह सोचता है कि जिनधर्म संसारमुक्ति का एकमात्र उपाय है, अतः मैं अपने न्यायोपार्जित धन से एक भव्य जिनमंदिर का निर्माण कराकर उसमें सुंदर व मनमोहक जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाऊंगा जिसके दर्शन मात्र से ही भव्यजीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे।[6] अनेक युक्तियों से जिनालयनिर्माण में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा को अनुकम्पा सिद्ध करते हुए शास्त्रकार परमतनिरसन व स्वमतस्थापना द्वारा सम्यग्दर्शन की प्रतिष्ठा के लिये जैन मुनियों के लिये भी परसमयज्ञता की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हैं।[7] इसी क्रम में दान देने में पात्रापात्र विवेक व लोकाचार के निर्वहनार्थ भी घर आए अपात्र याचक को दान देने में सावद्यकर्म न हो ऐसा ध्यान रखने की

---

१ वही, ४३-४५.
२ वही, ४७-४९.
३ वही, ५०-५१.
४ वही, ५२.
५ वही, ५३-५४.
६ वही, ५५-५७.
७ वही, ६१-६४.

आवश्यकता पर बल देते हैं, तथा जैन मुनियों के लिये कुवें, बावड़ी, तालाब, आदि खनन करवाने व कृषि, पशुपालन, आदि व्यवसाय करने, दानशालाएँ खुलवाने और राजनीति, ज्योतिष, धातुवेध, धनुर्वेद आदि के उपदेश न देने की मर्यादा बतलाते हैं।[१] इस भाग का समापन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार के अनुकम्पा-परिणाम वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[२]

आस्तिक्यलिंग : ग्रंथ की ७८वीं से १००वीं गाथाओं में पंचम सम्यक्त्वलिंग - आस्तिक्य का विवेचन किया गया है। इसमें आत्मा के अस्तित्व पर आस्था रखना आवश्यक बताया गया है।[३] बौद्ध क्षणिकवाद व आलय विज्ञानवाद का निरसन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इससे कर्ता और भोक्ता के भिन्न-भिन्न होने का प्रसंग उपस्थित होता है जो कि युक्तिसंगत नहीं है।[४] एकात्मवाद का निरसन करते हुए प्रत्येक प्राणिशरीर के लिये एक भिन्न आत्मा का होना व उसका स्वदेहप्रमाणत्व सिद्ध किया गया है।[५] इसके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल, व पुद्गल रूपी अजीव तत्त्व के अस्तित्व को प्रमाणित किया गया है।[६] आगे की गाथाओं में पुण्य-पाप,[७] आस्रव,[८] संवर,[९] निर्जरा,[१०] बंध[११] व षड्दर्शनाभिमत मोक्ष की अवधारणा[१२] का निरूपण

---

१ वही, ६५-७२, ७५-७६.
२ वही, ७७.
३ वही, ७८.
४ वही, ७९-८१.
५ वही, ८२-८३.
६ वही, ८४-८५.
७ वही, ८६.
८ वही, ८७-९०.
९ वही, ९१.
१० वही, ९२.
११ वही, ९३.
१२ वही, ९४-९८.

करते हुए सिद्धात्मा के लक्षणों का अनन्त ज्ञेयपदार्थज्ञान व अनन्तज्ञान में भेद करते हुए प्रतिपादन किया गया है।[1]

उपसंहार : ग्रंथ का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इन सम्यक्तवलिंगों से परिणत भावना से युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं अतः ये लिंग अपने साध्य (सम्यक्त्व) से अविनाभावी हैं।[2]

ग्रंथ का व्याख्या साहित्य : पंचलिंगीप्रकरण पर आचार्य जिनपतिसूरि द्वारा विरचित संस्कृत वृहद्वृत्ति प्राप्त है।

ग्रंथकार श्रीमज्जिनेश्वरसूरि[3]

जन्म और प्रारम्भिक जीवन[4] : आचार्य जिनेश्वरसूरि के जन्म संवत् की निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। प्रभावकचरित के अनुसार वे मध्यदेशवासी ब्राह्मण कुल के थे, उनके पिता का नाम कृष्ण था, उनका गार्हस्थकाल का नाम श्रीधर था तथा उनके अनुज का नाम श्रीपति था। दोनों भाई बड़े मेधावी थे। एकदा वे देशटन करते हुए धारा नगरी पहुंचे। वहाँ के धर्मनिष्ठ श्रेष्ठि लक्ष्मीपति के माध्यम से उनका परिचय तात्कालीन प्रभावक आचार्य वर्द्धमानसूरि से हुआ।

आचार्य भी दोनों मेधावी भाईयों से अत्यंत प्रभावित हुए। दोनों भाई आचार्यश्री के पास आने लगे व वैराग्य प्राप्त कर उनके पास दीक्षित होगए। वर्द्धमानाचार्य नें उनकी योग्यता देखकर दोनों को आचार्यपद प्रदान किया तथा चैत्यवासियों के मिथ्याचार का प्रतिकार करने के लिये प्रेरित किया और आदेश दिया कि वे अणहिलपुर पत्तन जाकर

---

१ वही, ९९-१००.

२ वही, १०१.

३ साध्वी, डॉ. स्मितप्रज्ञाश्री, युगप्रधान आचार्य जिनदत्तसूरि का जैनधर्म एवं साहित्य में योगदान, विचक्षण समिति प्रकाशन, अहमदाबाद, १९९९, पृ. २७-३६.

४ प्रभावक चरित, पृ. १६२.

सुविहित साधुओं के लिये वर्तमान बाधाओं को अपनी बुद्धि व शक्ति से दूर करें।

अणहिलपुर में चैत्यवासियों का बहुत जोर होने से उन्हें ठहरने के लिये स्थान भी कठिनाई से मिला फिर भी वहाँ के राजपुरोहित के माध्यम से वहाँ के राजा दुर्लभराज नें उनके गुणों से प्रभावित होकर एक उपाश्रय बनवाने का आदेश दिया। संभवतः उसी समय से वसतियों या उपाश्रयों की परंपरा का प्रारंभ हुवा।[१]

चैत्यवासियों के प्रभाव में जनविरोध के बीच अंततः विक्रम संवत १०८० में वर्द्धमानसूरि व चैत्यवासियों के बीच राजा दुर्लभराज के समक्ष शास्त्रार्थ होना निश्चित हुवा। जिसमें वर्द्धमानसूरि की ओर से जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ कर चैत्यवासी सुराचार्य को परास्त किया। जिनेश्वरसूरि के पक्ष से सहमत होते हुए राजा नें कहा, "जिनेश्वरसूरि का पक्ष खरा"। तभी से उनका समुदाय खरतरगच्छ के नाम से जाना जाने लगा व जिनश्वरसूरि उसके आद्याचार्य हुवे।[२]

जिनेश्वरसूरि का कालनिर्णय : जिनेश्वरसूरि के जन्म व स्वर्गवास की तिथियाँ उपलब्ध नहीं होने से उनके काल का सही निर्णय कर पाना तो संभव नहीं है किंतु निम्न उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि वे विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि के द्वितीय चतुर्थांश से विक्रम की बारहवीं शताब्दि के प्रथमांश के बीच हुवे होगेः –

१. अपनी युवावस्था में आचार्य वर्द्धमानसूरि के पास दीक्षित होकर उन्होंने आचार्यपद प्राप्त कर वि. सं. १०८० में चैत्यवासी सुराचार्य के साथ अपने काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धर्मिक वाद-विवाद किया था, अतः उनकी दीक्षा उनके जीवन के तीसरे दशक में

---

१ युगप्रधान आचार्य जिनदत्तसूरि . . ., पृ. २६.

२ वही, पृ. ३१-३३.

विक्रमी ग्यारहवीं शताब्दि के मध्य में कहीं होनी चाहिये।

२. उनकी उपलब्ध कृतियों का काल विक्रमी ग्यारहवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश से बारहवीं सदी का प्रथमांश है।[1]

जिनेश्वरसूरि का कृतित्त्व : जिनेश्वरसूरि ने कथात्मक, विवरणात्मक एवं प्रमाण विषयक अनेक ग्रंथों की रचना की है। उनके द्वारा रचित निम्न ग्रंथ उपलब्ध हैं:[2] –

१. आचार्य हरिभद्रसूरि के 'अष्टकप्रकरण' की ३३७४ श्लोकप्रमाण विस्तृत टीका।

२. 'चैत्यवंदन विवरण' पर १००० श्लोकप्रमाण टीका।

३. गृहस्थ के आचार-व्यवहार पर 'षट्स्थानकप्रकरण' ग्रंथ की रचना।

४. सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का विवेचक 'पंचलिंगीप्रकरण' नामक आलोच्य ग्रंथ।

५. 'प्रमाणलक्ष्य या प्रमाणलक्षण' नामक ग्रंथ जिसमें जैनदर्शनसम्मत तत्त्व की विस्तार से चर्चा की गई है।

६. 'कथाकोषप्रकरणवृत्ति'

इनके अतिरिक्त जिनेश्वरसूरि की एक अनुपलब्ध १८००० श्लोक प्रमाण कृति 'निर्वाणलीलावती कथा' प्राकृत महाकथा थी जो उपन्यास अथवा कथा-कोष-प्रकरण के रूप में थी, उसका केवल संक्षिप्त संस्कृत रूपांतरण उपलब्ध है।

जिनेश्वरसूरि की गुरु-शिष्य परंपरा : यह तो स्पष्ट ही है कि जिनेश्वरसूरि के गुरु आचार्य वर्द्धमानसूरि थे। आचार्य जिनेश्वरसूरि का शिष्य समुदाय भी अतिविशाल था। जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, धनेश्वरसूरि,

---

[1] वही पृ. ३४-३५.

[2] वही, पृ. ३३-३५.

हरिभद्रसूरि (याकिनीसूनू हरिभद्रसूरि नहीं), प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेवगणि, सहदेवगणि, सुमतिगणि, आदि उनके अनेक विद्वान् व मेधावी शिष्य थे।[१]

आचार्य जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास कब हुआ यह निश्चित नहीं हैं किंतु उनके द्वारा वि.सं. ११०८ में रचित 'कथाकोषप्रकरणवृत्ति' व वि.सं. १११२ में रचित 'चैत्यवंदनविवरणवृत्ति' प्राप्त है, अतः उन्होंने इसके बाद ही अपनी नश्वर देह का त्याग किया होगा ऐसा अनुमान है।

उपसंहार –

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पंचलिंगीप्रकरण' जैनदर्शन में प्रतिष्ठित सम्यग्दर्शन के पाँच बाह्य सूचकों (लिंगों) का विशद विवेचन करने वाला ग्रंथ है। इसके अध्ययन-मनन से जिनधर्म के अनुयाईयों में सम्यक्त्वबोध होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी ऐसी आशा करनी चाहिये।

– डॉ. (कर्नल) दलपतसिंह बया 'श्रेयस'

'नीड़', ई-२६, भूपालपुरा,
उदयपुर -३१३ ००१ (राजस्थान)

मकर संक्रान्ति, १४ जनवरी, २००६.

---

[१] वही, पृ. ३५.

PREFACE

The Jaina tradition mentions ther combination of right–vision, right–knowledge, and right–conduct as the liberating path. Out of these three, too, the greatest importance has been given to the gaining of right–vision, because in its absence neither the knowledge remains right nor the conduct can be right. It is for this reason that the preceptors from the very ancient times have acknowledged it as the first step to liberation,[1] the indicator of the liberating path,[2] and the very basis of the right faith.[3] Its importance can also be judged by the fact that the Lord Prophet (*Bhagvān Mahāvīra*) had himself declared that the person endowed with right–vision does no sin,[4] while *Kundakundācārya* asserted in *Bhāvapāhuḍa* that a person without right–vision is like a moving corpse.[5] In *Uttarādhyayanasūtra, Bhagvān Mahāvīra* gave it a totally new dimension by saying that one who lacks right vision does not gain right knowledge; without the right knowledge the conduct does not become virtuous (right) and without right conduct there is no *mokṣa* or freedom from karmic bondage and without such freedom one cannot liberate and gain the

---

1 *"Damsaṇasovāṇaṁ paḍhamaṁ mokkhassa /"* – Darśanpāhuḍa, 21.

2 *"Damsai mokkhamaggaṁ /"* – Bodhpāhuḍa, 14.

3 *"Damsaṇamūlao dhammo /"* – Ibid, 2.

4 *"Samattadamsī na karei pāvaṁ /"* – Ācārāṅga, 1/3/2.

5 *"Damsaṇamukko ya hoi calasavao /"* – Bhāvapāhuḍa, 143.

ultimate accomplishment of eternal bliss.[1] Many other works also reiterate that one who has a corrupted vision is the really corrupt one; one of corrupt conduct can liberate but one of corrupt vision cannot;[2] that one of pure vision is the really pure one,[3] and that it is only the one with right vision that can destroy the falsehood responsible for worldly transmigration.[4]

Describibg the virtues of a person with right vision, the scriptures say that such a person binds only very slight karmic bondages for his actions; [5] that whatever he does is for the sake of karmic separation; [6] that the rightly inclined souls are free of doubt, and consequently, free of fear as well; [7] that they are constantly absorbed in self–contemplation only; [8] and that they are in the know of the worthy and the unworthy. [9]

Because of this significant importance of the subject of right–vision, it has been widely and deeply discussed and analysed in the Jaina philosophical works. *Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ* by *Śrimad Jineśvarasūri* is also a work of the same genre.

Appreciating the gravity of the subject, we have dealt with this

---

1 Uttarādhyayanasūtra, 28.30.

2 Bhaktaparijñā, 66.

3 Mokṣapāhuḍa, 39.

4 Uttarādhyayanasūtra, 29.61.

5 Vandittusūtra, 36.

6 Samayasāra, 193.

7 Ibid, 228.

8 Bhāvapāhuḍa, 31.

9 Sūtrapāhuḍa, 5.

introduction under the following heads: –

1. Right–vision : An appreciation,
2. A Critical Introduction of *Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ*, and
3. Life and works of *Śrimad Jineśvarasūri.*

RIGHT–VISION: AN APPRECIATION[1]

Everyone's Own Peep–hole –

A. G. Gardiner, the famous essayist, said, "Everyone looks at the world outside him through his own peep–hole", this underlines the importance of having the right–view. In the presence of the right–view the things appear in their right perspective and in its absence even the right things appear to be wrong and *vice versa.* The Jaina thinkers have delved deep on the subject of having the right–view or the right–vision or the right–belief or the right–faith or the right–inclination or the right–attitude or the right perspective. So much so that they consider it to be the very basis of the faith at the very root of it when they say that the faith is founded on the (right) view itself (*Daṁisaṇa mūlao dhammo*). Another view has it that those of corrupt conduct can correct themselves and liberate but those of corrupt vision cannot liberate. Here, we present the essential features of the Right–View, as seen by the Jaina seers of yore and interpreted by the saints and scholars down the ages.

---

1 *Śreyas, Jaina Dharma : Jīvan Dharma*, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Samsthan, Udaipur, 2004, pp. 93–110.

Darśan And Samyagdarśan –

Darśan is defined as an expression of a living being's capacity for discrimination or the way it perceives things. In its true sense, it can be said to be the intuitive perception coupled with discretion. It has also been said to be the general view or conation of things by anybody in the general environment around oneself rather than specific perception or cognition, which is termed as knowledge. Thus a person or a living being for that matter, endowed with *darśan* develops a wider world–view rather than a limited one. This is what distinguishes conation (*darśan)* from cognition (*jñāna*). This very conation when coupled with right discrimination that can give its holder a right perspective on things that he perceives around himself, becomes right–conation or *Samyagdarśan.* It goes without saying that the outlook of a conative seer is much wider in its scope and it includes diverse points of view. In other words we can say that a seer has a synoptic view or a holistic view on things, which is completely comprehensive. In the context of a religious philosophy, however, it would mean having the right–faith or an unwavering belief in that faith. This brings us to the two meanings given to the word *Samyagdarśan* – 1. Right–view and 2. Right–faith. In the first sense, the Jaina view ascribes it the quality of having a right–view by rising above attachment and aversion. It implies that one rises above dogma and parochialism. In the second sense it is synonymous with deep devotion and firm belief in the views presented by the Prophets that propounded the faith we follow. Here, it is implied that we, the ordinary believers are not wise enough to have a completely

comprehensive view and, therefore, we must steadfastly believe in the view presented by the Prophets, who had such comprehensive vision. The Jaina analysts have, over the ages, subscribed to the latter meaning of the term *Samyagdarśan. Vācak Umāsvāti's Tattvārthasū tra* mentions, at the very outset that *Samyagdarśan* is nothing but a firm belief in the elments enunciated by the seers (Prophets).

Here, we must not gloss over the fact that taken in its second sense, the meaning of *darśan* militates against a man's reason, against the very speciality that sets him apart from the animal world. However, this is not an irreconcilable conflict. As long as man's reason looks outwards, it is in conflict with faith; as soon as it starts looking inwards or becomes introspective it gives rise to faith. It not only becomes an aid to faith but an integral part of it.

The Importance Of Right–view –

To realise the full import of right–view, we must appreciate the dreadful nature of false–vision and gauge the harm that can come our way by having it. It has been said that false–vision is the ultimate disease, the ultimate darkness, the ultimate enemy and the ultimate poison. It is the greatest disease because the physical maladies adversely affect only the body, the mental illnesses do so to the mind but false vision corrupts the very soul. It is the darkest of the dark because even the darkest of night can be lighted by a mere lamp but the soul in the grip of false–vision cannot see right even in the broad day–light. It is the most potent enemy, for the other enemies only harm our worldly interests but it hurts to the very core and condemns the false–visioned to eternal cycle of worldly transmigration. It is,

also, the most fatal poison since it kills the spirit rather than the body.

Its importance had been realised from the very early stage as is evident from the first place accorded to it amongst the three gems of the path of spiritual emancipation, namely – *Samyagdarśan* (Right–view), *Samyagjñāna* (Right–knowledge) *and Samyakcāritra* (Right–conduct). The *Tattvārtha–sūtra* very clearly states that these three, in that order, constitute the liberating path.

From the spiritual point of view, the ultimate goal of every living being is liberation from miserable mundane existence. All that aids the realisation of that goal is important. Again, it is quite logical to think that one can liberate by following the religious faith. The importance of *Samyagdarśan* or the right faith lies in the fact that it is at the very root of the religious faith (*Damisaṇa–mūlao dhammo).* Another view holds that liberation is possible by adhering to the ethical norms that constitute the right–conduct. Again, the logic tells us that the knowledge of the right–conduct is possible only through the right–knowledge, which is, in turn, possible only through the right–view. When information combines with perspective it becomes knowledge. In the absence of the right–perspective, given to us by holding the right–view, the knowledge becomes only a set of information and is not integrated with the intellect to be assimilated as right–knowledge. It is the perspective that converts information into knowledge and the right–perspective converts the information into right–knowledge. Therefore, there is a lot of substance to the saying contained in the 30th verse of the 28th chapter of the *Uttarādhyayanasū tra* – 'one who lacks vision, lacks knowledge; without knowledge the conduct does not become virtuous and without the virtuous (right)

conduct there is no liberation.'

The most important spiritual feature of right–vision is that it keeps the aspirant, endowed with it, free from sinful pursuits. The very first Jaina primary canonical scripture, *Ācārāṅga* says – 'the right–visioned aspirant commits no sin (*Sammattadaṁsī ṇa karei pā vaṁ).*' There are several reasons why it is so.

1. Firstly, the right–visioned aspirant sees things in their right perspective. His view of the fundamental verities is as it should be. He distinguishes the living from the non–living and thereby establishes a unity between his own self and the other living beings and treats them as such. He is, therefore, able to observe non–violence as per the dictates of his station in life.
2. Secondly, such an aspirant, by virtue of his subsided passions, controls his drives and passions and remains away from sinful pursuits.
3. Thirdly, he is able to appreciate the duality of the soul and the body and, thereby, distinguish between the matters spiritual and those that are physical. By concentrating on the spiritually beneficial pursuits, he remains free from sins.
4. Fourthly, he is able to appreciate the miserable nature of worldly existence and, therefore, strives for liberation.
5. Fifthly, his detached attitude keeps him away from many a sin.
6. Sixthly, he has a realistic view about the pleasure and pain, loss and gain, and honour and insult and is not unduly perturbed by them and, therefore, is not given to sins of

revenge, retribution, despondence or anger, all of which ultimately result in committing of sins.

7. Seventhly, his discretion helps him in choosing the right from the wrong.
8. Eighthly, he is aware of the transient nature of life and wishes to spend his life in spiritually beneficial pursuits rather than wasting it in sinful ones.
9. Next, he realises the futility and ultimately painful nature of all sensory pleasures and, therefore does not lead a life of indulgence.
10. Next, his actions are in tune with his thoughts which are pious at the very least and spiritual at large.
11. Again, the right–visioned aspirant is afraid of only one thing in his life and that is committing sins. This fear of sins keeps him away from them and leads him to virtuous piety and righteousness.

From the worldly point of view also, the importance of having a right–view cannot be denied. How the perspective changes the attitude of a person can be very well understood from this story from the Buddhist *Jātakas.*

Once, the only son of an old lady passed away. She couldn't accept the fact of her son's death and insisted that the doctor should keep treating him. She not only cried inconsolably but also wouldn't let him be cremated. The old and sage doctor, who was treating her son, advised that she went and saw Lord Buddha, who might help her

son. The old lady went to Lord Buddha and requested him to make her son well. Buddha knew that if he plainly told her that her son had died, she wouldn't believe Him. So, He told her to fetch a handful of mustard seeds from any household from the village that hadn't had a death in it. "I shall make your son alright as soon as you bring the mustard seeds", He said.

The old lady rushed to the first house in the village and asked for the mustard grains. The lady of the house brought the grains readily and offered them to her. However, she couldn't accept the grains as she was told that the household had had deaths in the past. She faithfully went round each and every house in the village but couldn't find a single one that hadn't had deaths. Someone would say, "my father died here, my mother died here." Someone else would say, "only recently my son died in this very house."

Dejected, the old lady went back to where Lord Buddha was and said that she couldn't find the mustard seeds as there was no household in the village that hadn't had deaths in the past.

At this stage, Lord Buddha explained the reality about the births and deaths to her. He said, "all those that take birth certainly die, this is the way of the nature." Your son was born and lived the entitled life. He had to die now. There is no escape from death", He said.

This changed the old lady's perspective on death. The grief of losing a son that seemed unbearable a little while ago did not seem so unbearable after this change of perspective.

The Indicators Of Right–view –

Samyagdarśan or the right–belief has been said to be the very basis of *'dharma'* – the faith. The belief (*darśan)* can be false (*Mithyādarśan*) as well as right (*Samyagdarśan*). Though it is an abstract and an internal phenomenon, it has its external indicators or signs, too. The following are the eight external signs of right–view or right belief according to the *Digambara* tradition of Jainism: –

1. *Saṁvega* – An intense desire for salvation,
2. *Nirveda* – Detachment towards everything else,
3. *Nindā* – Condemnation for the falsehood,
4. *Garhā* – Censure for the unrighteous,
5. *Upaśama* – Cessation of evil ways.
6. *Bhakti* – Devotion for the faith,
7. *Vātsalya* – Selfless affection, and
8. *Anukaṁpā* – Compassion.

These eight can, however, be included in the following five that are mentioned in the works of the *Śvetāmbara* tradition –

1. *Śama or Upaśama* including *'Nindā'* and *'Garhā'*.
2. *Saṁvega* – including *Vātsalya* 'and *'Bhakti'*.
3. *Nirveda* – detachment from the mundane affairs,
4. *Anukaṁpā,* – compassionate disposition, and
5. *Āstikya* – steadfast spiritual belief.

Praśama And Upaśama –

The complete suppression of passions – anger, pride, guile and greed – and resultant state of spiritual calmness and serene tranquillity

is *praśama.* It includes *upaśama,* which is only their partial subsidence. In the case of *upaśama,* it is only the most persistent and infinitely bonding passions, called *Anantānubandhī kaṣāya,* that are subsided. Unless the infinitely bonding persistent passions are subsided, the subject cannot hope for the right–vision to dawn, for such persistent passions cloud his vision. Once the stage of *praśama* is reached, the spiritual aspirant is at the verge of enlightenment or self–realisation. As the outer disposition of an aspirant is indicative of his inner calmness or otherwise, *Praśama* or *Upaśama* are vital indicators of his right or false vision. However, according to the author of *Pañcaliṅgīprakaraṇam,* upśama is the subsidence of false–vision or *mithyātva.*

Saṁvega –

The second sign of right vision is *saṁvega* or an intense desire to attain liberation from the miserable and spiritually inhibiting mundane existence. The state of purity of the soul is its natural state and there is no wonder that every rightly inclined soul desires to revert back to it, just as every traveller desires to reach back home from a tiring journey. As it is natural for every traveller, who is not a homeless nomad, to wish to come back home, so the case with every soul, which is not false–visioned, is to crave to reach the home ground of liberation.

Nirveda –

Nirveda is the psychic state in which the aspirant constantly feels that his worldly existence is like a prison where he has been

imprisoned. He feels the futility of the worldly relations and mundane affairs from the spiritual point of view and develops a sense of detachment towards the mundane. This neutral or detached disposition is evident in his every action. He does everything expected of him but as a matter of duty, without any sense of involvement and attachment. This sense of detachment is the third sign of right–vision.

Anukampā –

Anukampā or compassion is the fourth sign of right–vision. An aspirant imbued with compassion is not only moved by others' sorrows and sufferings, but is also aware of the sufferings that the karmic bondage and worldly existence have wrought upon his own soul. As much as he is eager to mitigate the sufferings of the others by helping them I whatever way possible, he is equally eager to mitigate his own sufferings by leaning on to spirituality.

Āstikya –

Finally, the right–visioned aspirant can be recognised by his unwavering faith in the existence of nine fundamental elements: soul, non–soul, merit, demerit, karmic influx, karmic bondage, karmic stoppage, karmic separation, and freedom from karmic bondage. He believes in the existence of the universe with hellish grounds, heavens, human and animal world and the land of the liberated souls, which is the ultimate destination of all the souls. This firm belief keeps him on the right–track and gives him the wherewithal to achieve liberation from the mundane existence and reach the land of

the liberated.

Four Organs Of Right–vision –

There are four well–defined organs of Right–vision. They are –

1. Acquaintance with the ultimate meaning and aim of life *(Paramārtha–saṁstava)* that includes a sense of deep devotion to the right path, its propounding Prophets and the preceptors that propagate it,
2. Visible practice of activities that lead to the ultimate goal like devotion and worship of the right faith and its propounding Prophets and preceptors *(Sudṛṣṭa Paramārtha–sevanā)*;
3. Shunning the company of those of corrupted vision (*Vyāpanna–varjana)* and
4. Not following the precepts of the false faiths (*Kudarśana–varjana)* are the four limbs of right–vision.

The wholesome right–vision has all these limbs intact. If any of these is not intact such vision can, at best, be only lame or mutilated.

Samyaktva or the right–belief has the following eight attributes and their corresponding flaws: [9] –

---

[1] 1. Uttarādhyayanasūtra, 28.31.
2. Śramṇapratikramaṇasūtra, 6.
3. Pākṣikādi Aticāra, 2.

Ser.	Flaws	Attributes
a.	*Sanikā (Śaṅkā)* – doubt.	*Nissaṅkiya (Niḥśaṅkita)* or freedom from doubt.
b.	*Kaṅkhā (Kāṅkṣā)* – desire.	*Nikkaṅkhiya (Niḥkāṅkṣita)* – freedom from desire.
c.	*Vigicchā (Vicikitsā)* – revulsion.	*Nivigicchā (Nirvicikitsā)* – Freedom from revulsion.
d.	*Mūdhaditthi (Mūdhadṛṣṭi)* – Non–comprehension.	*Amūdhaditthi (Amūdhadṛṣṭi)* – Comprehension of the faith.
e.	*Anupagūhana* – Non–protection of the faith.	*Upagūhana* – Protection of the faith.
f.	*Asthitikaraṇa* – Non–firming of the deviants.	*Sthitikaraṇa* – Firming of the deviants.
g.	*Avātsalya* – Non–affection for the faithful followers of the faith, and	*Vātsalya* – Affection for the faithful followers of the faith, and
h.	*Aprabhāvanā* – Non–promotion of the faith.	*Prabhāvanā* – Promotion of the faith.

Types Of Right–vision –

From the point of view of dawning of the right–vision, it can be of two types – 1. Naturally dawning and 2. Dawning through external stimulation. These have been further categorised into the following ten categories: –

1. *Nisargaruci* – The right–vision that dawns naturally by virtue of earlier recall, etc.

2. *Upadeśaruci* – The right–vision that dawns by someone else's preaching,
3. *Ājñāruci* – The right–vision that dawns through the teaching of the Lords *Jina*, which is referred to as instruction or *ājñā*.
4. *Sūtraruci* – The right–vision that dawns by studying scriptures,
5. *Bījaruci* – The right–vision that dawns by germination of the seed of one part of right–vision that ultimately grows into comprehensive right–vision.
6. *Abhigamaruci* – The right–vision that dawns when the meaning of the canonical texts becomes clear,
7. *Vistāraruci* – The right–vision that dawns by studying the explanatory literature on the scriptures,
8. *Kriyāruci* – The right–vision that dawns through various religious activities,
9. *Saṅkṣeparuci* – The right–vision that dawns by knowing, in nut–shell, that whatever has been preached by the Lords *Jina* is true and beneficial, and
10. *Dharmaruci* – The right–vision that dawns by believing in the fundamental elements stated by the Lords *Jina*.

In the present times the sources of acquiring right–vision and maintaining it are – serving the right preceptors, listening to their discourses and studying the scriptures.

From the point of view of stability the right–vision has been said to be of the following three categories, which comes about by suppression *(upaśama)* or destruction cum suppression (*kṣayopaśama)* or the destruction *(kṣaya)* of one or the other or all of the seven types of bonded karma–matter – 1–4. Infinitely bonding persistent passions, namely anger, pride, guile and greed (*Anantānubandhī krodha, māna, māyā, lobha),* 5. Falsehood producing deluding karma *(Mithyātva Mohanīya Karma),* 6. Mixed delusion producing karma (*Miśra Mohanīya Karma)* and 7. Right–vision obscuring deluding karma (*Samyaktva Mohanīya Karma)* that produce false–vision and inhibits the right one : –

1. *Aupaśamika Samyaktva* – This is the right–vision that comes into being only through suppression of the aforementioned seven types of karma and is temporary, its duration being limited up to a period of less than one *muhurta* (48 minutes approx.). This type of right–vision vanishes when the deluding karma comes to fruition and the passions come to the fore.
2. *Kṣāyopaśamika Samyaktva* – This type of right–vision comes into being through the suppression of some and destruction of the others of the aforementioned seven types of karma. It is also temporary and lasts up to a maximum duration of 66 *Sāgaropama.*
3. *Kṣāyika Samyaktva* – This is the permanent type of right–vision that comes into being by complete destruction of the aforementioned seven types of karma. This type does not

lapse after it dawns.

From the angle of absolute and practical standpoints, again, the right–vision is of two types –

1. The absolute right–vision is only a state of mind and does not manifest itself in the form of devotion or worship of any deity etc. It considers the own soul itself as the treasure of all spiritual virtues that are waiting to be revealed through self–exploration.
2. On the other hand practical right–vision is visible in the form of devotion and worship of the prophets, preceptors and propagators of the right–faith.

Lastly, let us have a look at the five means that promote right–vision and the other five that endanger it. The five that promote it are –

1. Stability (*Sthiratā)* – to believe in and steadfastly adhere to the path of liberation preached by the Lords Jina is stability.
2. Promotion Of The Faith (*Prabhāvanā)* – the right–visioned aspirant must consciously promote the right–faith and dispel the doubts that arise from within or without.
3. Devotion (*Bhakti)* – the right–visioned aspirant must remain devoted to the pillars of the faith such as its Prophets, preceptors and propagators.
4. Skill (*Kauśal*) – To gain a complete knowledge of the tenets of the faith with reasons thereto so that one is able to clarify any doubts expressed about it.

5. Service To The Four Organs Of The Faith (*Tīrthasevā)* – serving the four organs of the faith, namely – the monks, the nuns, the lay male followers and the lay female followers not only promotes the right–vision but also strengthens it.

On the other hand, the five means that endanger the right–vision are –

1. Doubt *(Śaṅkā)* – doubt and disbelief in the words of the Lords *Jina* tarnishes the right–vision. Sometimes we are unable to comprehend something and start doubting its veracity. The steadfast belief requires that on such occasions we only lament the limit of our intellect and not doubt the words of the Prophets who were omniscient.
2. Desire Or Lust For pleasures *(Kāṅkṣā)* – At times it happens that we are attracted by certain temptations and fall prey to false–faiths. The right–visioned aspirant must be constantly vigilant to guard against such inducements and remain firm in the belief that own faith is equally beneficial if not more and one does not have to look over one's shoulders for any worldly welfare.
3. Doubting The Result Of Following The Faith *(Vicikitsā)* – One must realise that all our actions – pious or otherwise – do not fructify immediately. There is always a gestation period after which they come to fruition. There is, therefore, no reason to despair if our pious deeds or religious practices do not yield immediate benefits. This despair and consequent doubt in the beneficial effects of the religious practices is

Vicikitsā.

4. Praising The Other Faiths (*Parapāṣaṇḍa praśaṁisā)* – it is a general observation that the poor merchandise comes in better packaging. The false–faiths are, similarly very well presented and they are, generally, able to attract more gullible people. A right–visioned aspirant ought to see through this guile and realise the truth of the matter and not fall prey to false propaganda. If he is discriminating enough, he will not be unduly attracted towards such other faiths, leave aside praising them.
5. Familiarity With The followers Of False faiths (*Para– pā ṣaṇḍa Paricaya)* – Frequent contact with anyone has an induction effect on one's thoughts. 'Familiarity breeds friendship' is an age–old adage. One must, therefore, guard against who one fraternises with in the matters of the faith. Familiarity with those of the false faith is bound to corrupt one's own vision. Hence, the injunction to avoid contact with the others of the false faith. Also, 'one is known by the company one keeps.' If someone is seen in wrong company frequently, he is bound to be mistaken for being wrong himself.

Finally, it would be proper to say that dawn of right vision is ɔetter than gaining the material wealth of the three worlds.[1]

(Śivārya, Bhagavatī Ārādhanā, 742).

PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ : A CRITICAL INTRODUCTION

General Introduction : *Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ* is a unique philosophical treatise by *Śrīmad Jineśvarasūri* that carries out a detailed analysis of the five indicators or signs of righteousness or right–vision. The first verse enunciates the names of the five signs; verses from 2nd to 13th deal with the first sign – *Upaśama* or subsidence; those from 14th to 32nd with the second sign – *Saṁvega* or desire for liberation; the ones from 33rd to 52nd with the third sign – *Nirveda* or detachment; those from 53rd to 77th with the fourth sign – *Anukampā* or compassion, and the verses from 78th to 100th deal with the fifth sign of righteousness – *Āstikya* or firm belief.

The Language and Style : This work has been written in the *Jaina Mahārāṣṭrī Prākṛt* language, and in excellent poetic compositions in *gāthā* metre.

The Size of the Treatise : This work is in 101 *Prākṛt gāthā* verses and its available published edition with a detailed *Saṁskṛt* commentary by *Ācārya Śrī Jinapatisūri* is in 187 leaves in *sūtra* format.

The Period of Writing of This Work : Though no definite date has been indicated by the author as to when this treatise was written, from the evidence of the dates of his other avilable

works, it may be surmised that it was written some time in last quarter of the 11th century V.E.[1]

The Available Copy : The available copy of *Pañcaliṅgī–prakaraṇaṁ* was published, along with a *Saṁskṛt* commentary by *Ācārya Śrī Jinapatisūri* and notes compiled by *Upādhyāya Śrī Jinapā lagaṇi,* by *Ācārya Śrī Kṛpā Chandraji Mahārāj,* Nava Upasara, Gopipura, Surat for *Śrī Jinadattasūri Prācīna Pustakoddhāra Fund* as the 10th title of *Arhaṁ Granthamālā,* in the year 1919 A.D.

The Subjectmatter of Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ :

This treatise deals with the analytical description of five signs of righteousness : *Upaśama* (subsidence), *Saṁvega* (desire for liberation), *Nirveda* (detachment), *Anukampā* (compa–ssion), and *Āstikya* (firm belief). In the very first verse, the author has named the five signs and indicatred that it is composed in *gāthā* metric poetry form.[2]

Upaśamaliṅga (Subsidence–sign) : In the 2nd to 13th verses of this work dealing with subsidence, the first sign of righteous–ness, the author variously proves that the subsidence of false–vision and not that of infinitely bonding passions, is the sign

---

1 Vikrami Era.

2 Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ, 1.

of right–vision.[1] According to him, the interest in non–elements and their knowledge is the sign of false–vision and not that of infinitely bonding passions *(Anantā–nubandhī Kaṣāya).*[2] The author emphasises that the activities that promote false–knowledge are against the scriptural dicates, anti canon–learned preceptors, unworthy of doing and that it aids falsehood.[3] He goes on to say that forcible conversion of others' virtuous disciples, pride in the knowledge of elements, acceptance of what is forbidden by the canon–learned masters, and proving of one's view–point by taking recourse to deceit are bad deeds and that even monastic practices done for gaining name and fame do not indicate righteousness.[4]

Saṁvegaliṅga (Desire for Liberation) : In the 14th to 32nd verses of this work the author has discussed 'desire for liberation', which is the second sign of righteousness. In the very beginning it says that a rightly inclined soul thinks of the real (ultimately painful) nature of sensual pleasures even when he has to indulge in them due to the rise of the relevant (*Śātā vedanīya*) karma, and harbours the desire for leaving them.[5] He realises that these sensual enjoyments are pleasant initially

---

1 Ibid, 2.

2 Ibid, 3.

3 Ibid, 10.

4 Ibid, 11–13.

5 Ibid, 14.

but result in misery, finally.[1] By succumbing to such desires, a person, like a worm, indulges in deriving pleasure from the excretory organs of the female anatomy, and suffers many a misery for the sake of worldly affairs and accumulation of material wealth. As a result, he suffers untold painful sorrows and miseries in the hellish and subhuman species.[2] Emphasising the unworthiness of these worldly pleasures, the author says that if they were worthy of enjoyment, why would the great men like the *Cakravartis* (king–emperors), and *Baladevas* (the mighty ones) renounce them? [3] Leave alone enjoyment, even their desire results in worldly transmigration.[4] He urges the aspirant readers to pursue the goal of freedom from karmic bondage, because it is infinitely more pleasurable as compared to the *praśama* or complete subsidence of passions.[5] It is for this reason that the gentle aspirants resist karmic influx (*karmāsrava*) and practice penance (*tapa*) for karmic separation (*karma–nirjarā*).[6] Further, one who reveres and honours the virtuous and has little attachment for the family promotes the Jina order and not revelling in worldly ascendance, he repents for the little violence that takes place during the course of performing his

---

1 Ibid, 15.

2 Ibid, 16–18.

3 Ibid, 19.

4 Ibid, 20.

5 Ibid, 22–23.

6 Ibid, 24.

daily chores.[1] Also, he is so detached from his material wealth that he considers only that much as worthwhile as is used for serving the needs of the deity and the gurus and considers the remaining wealth as unworthy and the cause for increasing the wanderings in worldly transmigration.[2]

Nirvedaliṅga (Detachment From the Mundane) : The 33rd to 52nd verses of this work are devoted to the analysis of the third sign of righteouness – detachment. The righteous soul feels anxious and thinks about renunciation of the worldly life when it thinks about the mundane miseries suffered during transmigration in the four worldly species and about the unbearable sufferings in the hellish and subhuman species.[3] Further, it says that due to the reasons like false–vision, etc, the soul bonds such karmic bondages that result in its being cooked and burnt in the fierce *Kumbhipāka* fires in the hells. On coming out of the hells, too, he gets reborn in sub–human species and as a hellish being fron there again.[4] Even as a human being, it is born in lowly caste and family and suffers the misery of employment in demeaning tasks. There, it suffers disease and deprivation, separation from the desirable and association with the undesirable and dies a miserable

---

1 Ibid, 29–30.

2 Ibid, 31.

3 Ibid, 33–34.

4 Ibid, 35–38.

death due to worry and misery.[1] Even in the heavenly rebirth, he is worried about his imminent departure from the heaven and rebirth in subhuman species. Like this, the righteous soul thinks of the past, present and future miseries and feels an aversion for the worldly existence.[2] He also feels miserable when he thinks of ineternality and unsheltering nature of the world. [3] In the final analysis, he considers the all–renounced monks as blessed and does not feel attached to the worldly pleasures even while enjoying them.[4] Like this, the rightly inclined aspirant gains the detached disposition. [5]

Anukampāliṅga (Copassion–sign) : In the 53rd to 77th verses of this treatise, the author has discussed the fourth sign of righteousness – compassion. He says that a righteous person is compassionate and he always keeps thinking about mitigating others' miseries. He thinks that he must try for the liberation of the worldly beings from their worldly miseries.[6] "As the liberating path propounded by Lords Jina is the only way to liberate the worldly souls, I shall get a magnificent Jina temple constructed with my lawfully earned wealth and get a fine Jina idol installed therein, so that the liberatable beholders

---

1 Ibid, 39–42.

2 Ibid, 43–45.

3 Ibid, 47–49.

4 Ibid, 50–51.

5 Ibid, 52.

6 Ibid, 53–54.

may gain right–vision", he thinks.[1] Variously, the author proves that, in ultimate analysis, the violence towards the immobile and mobile fine and gross creatures, that takes place during the construction of the Jina temple, amonts to compassion. He emphasises that the Jaina monks must also study the other religious philosophies so that they may effectively refute the arguments of the opponents and establish own view–point in any debate.[2] In the same vein, he says that while dispensing charity, one must consider the suitability of the receiver and even as a social obligation, he must ensure that no violence towards any form of life takes place while giving charity to the undeserving mendicants that call at his house for alms. He emphatically says that the Jaina monks must not preach digging of wells, staired wells, and ponds; that they must not discourse on the pursuit of trades such as agriculture, cattle raising, operation of charity homes, etc. They must also not explain the provisions of works on statecraft, astrology, metallurgy, archery, etc.[3] Concluding this part, the author says that a compassionate soul is certainly right–visioned.[4]

Āstikyaliṅga (Firm Belief) : In the 78th to 100th verses of this

---

1 Ibid, 55–57.

2 Ibid, 61–64.

3 Ibid, 65–72, 75, 76.

4 Ibid, 77.

work the author has deliberated on the subject of firm and unwavering belief. "A firm belief in the existence of the soul is essential", he says and goes on to refute the arguments of the non–spiritualists such as the Buddhists.[1] Discussing the Buddhist philosophies of momentariness (*Kṣaṇikavāda*) and that of embodied knowledge (*Ālaya–vijnānavāda*), the author says that their beliefs are not tenable as they mean that the actor and the enjoyer of the fruits of action are not the same, and that is not logical and cannot be true.[2] The author has very logically proved that for every living body there has to be different soul, which is specific to that body, which has to be of the same dimensions as the body that it occupies.[3] This was about the first element (tattva) called *Jīva*. Besides this, the existence of the non–living substances (the second element called *Ajīva*) such as ether (*Dharmāstikāya* or the medium of motion), non–ether (*Adharmāstikāya* or medium of rest), space (*Ākāśa*), time (*Kāla*), and tangible matter (*Pudgala*) has been irrefutably proved.[4] In the verses that follow, the existence of remaining seven elements: merit (*Puṇya* or auspicious karma that results in plaeasurable retribution), demerit (*Pāpa* or inauspicious karma that results in painful retribution), karmic influx (*Āsrava*), karmic stoppage

---

Ibid, 78.
Ibid, 79–81.
Ibid, 82–83.
Ibid, 84–85.

(*Saṁvara*), karmic bondage (*Bandha*), karmic separation (*Nirjarā*), and full freedom from karmic bondage (*Mokṣa*), has been proved.[1] The concept of *mokṣa* as obtained in the six Indian religious philosophies has also been discussed.[2] Finally, the author distinguishes between the knowledge of the infinite knowledgeworthy substances and the infinite perception and says that the ultimately accomplished souls (*Siddhas*) posess the infinite perception while even a worldly wise and knowledgeable aspirant may be in the possession of the knowledge of infinite substances.[3]

Conclusion : Concluding the treatise, the author says that an aspirant who is imbued by these signs of righteousness possess right–vision. Therefore, these signs are inseparable from their subject – right–vision. [4]

The explanatory works on Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ :

An extensive *Saṁskṛt* commentary by *Ācārya Śrī Jinapatisūri* is available and has been co–published with the text, as cited for the original work.

---

1 Ibid, 86–93.

2 Ibid, 94–98.

3 Ibid, 99–100.

4 Ibid, 101.

AUTHOR : ŚRIMAJJINEŚVARASŪRĪ[1]

Birth and Early Life[2] : Conclusive evidence about the year of birth of *Ācārya Jineśvarasūri* is not available. According to *Prabhāvak Carit* he was from a *Brāhmin* family of Central Province and his father's name was *Kṛṣṇa*. His household name was *Śrīdhara* and his youger brother was called *Śrīpati*. Both brothers were brilliant scholars. Once, they visited the town of *Dhāra*, where they were introduced to an influential Jaina master *Ācārya Varddhamānasūri*, by a religious and wealthy merchant by the name of Lakṣmipati.

The *Ācārya* was also impressed by the unusual brilliance of the two brothers and encouraged them. With the passage of time, the duo also developed a liking for the monastic life and recieved monastic ordination as *Ācārya Varddhamānasūri's* disciples. They learnt quickly and on seing their extraordinary capabilities, the *Ācārya* also pipped them as *Ācāryas*, and motivated them to go to the city of *Aṇahilpur Pattan* and apply their intellect and abilities to counter the falsehood propagated by the temple–dwelling monks there and, thereby, pave the way for the monks of right practices.

---

1 Sādhvi Dr. Smitprajñāśrī, Yugpradhān Ācārya Śrī Jinadattasūri Kā Jaindharma Evaṁ Sāhitya Mein Yogadāna, Vichakshan Sahitya Samiti Prakashan, Ahmendabad, 1999, pp. 27–36.

2 Prabhāvak Caritra, p. 162.

On reaching *Aṇahilpur Pattan*, they did not even get a proper palace to stay as the temple–dwellers were very strong there and did not want any right monks to come there and upset the applecart for them. However, they ultimately stayed with the court–priest and when the priest described the virtues of the right monks to the king, *Durlabhraj*, he ordered a place to stay for the monks to be built there. This was possibly, the first time that the tradition of monastic shelter (*Vasati* or *Upāśraya*) started. [1]

Under the influence of the temple–dwellers, the public also resisted the presence of these right–conduct practicing monks in the town. Finally, in the year 1080 V.E. a public debate was held, in the court of king *Durlabharaj*, in which *Ācārya Jineśvarasūri* contested on behalf of *Ācārya Varddhamānsūri* and defeated *Surācārya*, the head of order of the temple–dwelling monks. The king, too, agreed with the views expressed by *Ācārya Jineśvarasūri* and said, *"Jineśvarasūri's* views are correct." As the Gujarati word for correct is *'kharā'*, from then on his monastic group came to be known as *'Kharatara gaccha'* or the group that adhered to correct monastic practices. *Jineśvarasūri* became its first head of order (*Gcchādhipati).* [2]

Jineśvarasūri's period : As the dates of Jineśvarasūri's birth and death are not available, it is not possible to decide upon the exact dates of his period. However, on the basis of the following

---

1 Yugpradhan Ācārya Jinadattasūri. . . . ., ibid, p. 29.

2 Ibid, p. 31–33.

available evidence, it can be surmised that he most probably lived between the second quarter of the 11th century and the first quarter of the 12th century V.E. : –

1. He was ordained by *Ācārya Varddhamānsūri* in the prime of his youth. He became an influential *Ācārya* in the due course and contested the most important religious debate of the time and defeated his opponent, the temple–dwelling *Surācārya* in the year 1080 V.E. Therefore, his monastic ordination must have taken place in the third decade of his life somewhere in the middle of the 11th century (V.E.)
2. All his available works are dated between the last quarter of the 11th century to the first quarter of the 12th century V.E.[1]

Jineśvarasūri's Literary Contribution : *Jineśvarasūri* was a copiously prolific writer who wrote on as diverse themes as descriptive, religious story telling, and philosophy and logic. The following of his works are available to date:[2] –

1. A 3374 verse long commentary on *'Aṣṭakprakaraṇa'* by *Ācā rya Haribhadrasūri.*
2. A 1000 verse long commentary on *'Caityavandan vivaraṇa'.*
3. A treatise called *'Ṣatsthānakprakaraṇa'*, devoted to the practices to be followed by the Jaina laity.
4. *'Pañcaliṅgīprakaraṇam'*, an analytical description of five signs of righteousness.

---

1 Yugpradhan Ācārya Jinadattasūri. . . . ., ibid, pp. 34–35.

2 Ibid, p. 33.

5. A treatise called *'Pramāṇalakṣya'* or *'Pramāṇalakṣana'*, containing elemental discussion in accordance with Jaina philosophy.
6. *'Kathākoṣaprakarana Vritti'*, a commentary on *Kathā–koṣaprakaraṇa.*

Besides these works *Jineśvarasūri* had also authored an 18000 verse long book, which was in the form of an edited compilation (treasure) of religious stories (*Kathā–koṣaprakaraṇa*), by the title *'Nirvāṇa Līlāvati Kathā'*, which is no longer available except its short abridged *Saṁskṛt* version by a later scholar.

Jineśvarasūri's Lineage and Following : It is clear that *Jineśvarasūri's* guru was *Ācārya Varddhamānsūri*, a learned and influential master of the time. His disciple following was also considerable. His prominent and learned disciples were: *Jinacandrasūri, Abhayadevasūri, Dhaneśvarasūri, Haribhadra–sūri* (other than *Yākinisūnu Haribhadrasūri), Prasannacandra, Dharmadevagaṇi, Sahadevagaṇi, Sumatigaṇi,* etc. [1]

The Passing away of Ācārya Jineśvarasūri : The exact date of *Ācārya Jineśvarasūri's* death is not known, but his two works – *'Kathākoṣaprakaraṇa vṛtti'* (circa 1108 V.E.) and *'Caityavandan Vivaraṇa vṛtti'* (circa 1112 V.E.) are available, Therefore, it can be assumed that he must have passed away

---

[1] Ibid, p. 35.

some time after the year 1112 V.E.

Conclusion –

Thus, we see that *'Pañcaliṅgīprakaraṇam'* is a treatise that contains a detailed and analytical description of the five signs of right–vision, the most hailed of the Jaina philosophical concept. It is to be hoped that the study of and reflection upon the contents of this work will result in the gaining of the much desirable spiritual achievement of gaining the right view.

– Dr. (Col.) D.S.Baya '*Shreyas*'

'Neeḍa', E–26, Bhupalpura,
UDAIPUR –313 001 (Rajasthan)
Makar Sankranti, January 14, 2006.

पंचलिंगीप्रकरणम्

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय	V
पुरोवाक्	IX
स्वकथ्य	XIII
आशीर्वचन	XVII
आमुख	XIX
सम्यग्दर्शन का स्वरूपचिंतन	XXI
पंचलिंगीप्रकरणम् का समीक्षात्मक परिचय	XXXVII
ग्रंथकार श्रीमज्जिनेश्वरसूरि	XLIII
मंगलाचरण	१
पंचलिंगीप्रकरणम्	४
प्रथमलिंग : उपशम	६
द्वितीयलिंग : संवेग	२८
तृतीयलिंग : निर्वेद	६४
चतुर्थलिंग : अनुकम्पा	१०४
पंचमलिंग : आस्तिक्य	१५२
उपसंहार	१६८
परिशिष्ट :	i
लिप्यान्तरण परिपाटी	iii
गाथानुक्रमणिका	v
चयनित शब्दावली	vii
संदर्भग्रंथसूचि	xxvii

TABLE OF CONTENTS

PUBLISHER'S NOTE	VII
FOREWORD	XI
IN A WORD	XV
BLESSINGS	XVIII
PREFACE	XLVII
Right–vision : An Appreciation	XLIX
Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ : A Critical Introduction	LXVI
Author : *Jineśvarasūri*	LXXV
Benediction	2
Pañcaliṅgīprakaraṇaṁ	5
Subsidence : The First Sign	7
Desire for Liberation : The Second Sign	29
Detachment : The Third Sign	65
Compassion : The Fourth Sign	105
Firm Belief : the Fifth Sign	153
Conclusion	199
Appendices	i
Transliteration Convention	iii
Alphabetical order of Verses	xv
Selected Glossary	xvii
Bibliography	xxvii

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं [1],

कर्म-शत्रुनाशक अरिहंतों को नमस्कार

णमो सिद्धाणं,

सर्वकर्म-मुक्त सिद्धों को नमस्कार

णमो आयरियाणं।

धर्म-संघ नायक आचार्यों को नमस्कार

णमो उवज्झायाणं,

धर्म-शिक्षक उपाध्यायों को नमस्कार

णमो लोए सव्वसाहूणं।।

लोक में स्थित सभी साधुओं को नमस्कार

एसो पंच—णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।

ये पांच नमस्कार सर्व पापों का नाश करने वाले हैं

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

तथा (यह मंत्र) सब मंगलों में प्रथम मंगल होता है।

---

[1] पाठांतर - 'णमो अर्हन्ताणं'।

BENEDICTION

ṆAMO ARIHANTĀṆAṀ[1]

Obeisance to the *Arihantas* the (Venerable) Slayers of (Spiritual) foes.

ṆAMO SIDDHĀṆAṀ

Obeisance to *Siddhas*, the ultimate accomplished.

ṆAMO ĀYARIYĀṆAṀ

Obeisance to *Ācāryas*, the (venerable) masters heading the religious orders.

ṆAMO UVAJJHĀYĀṆAṀ

Obeisance to *Upādhyāyas*, the (venerable) teacher–preceptors.

ṆAMO LOE SAVVASĀHŪṆAṀ

Obeisance to all the *Sādhus*, the (Venerable) ordained ascetics.

ESO PAÑCA ṆAMUKKĀRO

Such five–way obeisance –

SAVVA PĀVAPPAṆĀSAṆO

Is the destroyer of all sins (and) –

MAṄGALĀṆAṀ CA SAVVESIṀ

Of all the auspiciousnesses –

PAḌHAMAṀ HAVAI MAṄGALAṀ

It is the very first (and the foremost) auspiciousness.

---

[1] Alternative text: 'ṆAMO ARHANTĀṆAṀ'

वसतिमार्गप्रकाशक श्रीमज्जिनेश्वरसूरिविरचित

पंचलिङ्गीप्रकरणम्

ŚRĪMAJJINEŚVARASŪRI'S

PAÑCALIṄGĪ PRAKARAṆAṀ

श्रीमज्जिनेश्वरसूरिकृत

पंचलिङ्गी–प्रकरण

सम्यक्त्व के लक्षण :

उवसम संवेगो वि य निव्वेओ
तह य होइ अणुकम्पा ।
अत्थिक्कं चिय,
पंचवि हवंति सम्मत्तलिंगाइं ।। १ ।।

उपशम–संवेगाश्चापि निर्वेदो तथा भवति चानुकम्पा।
आस्तिक्यमेव पञ्चापि भवन्ति सम्यक्तवलिङ्गानि।। १ ।।

उपशम संवेग और निर्वेद तथा होती है अनुकम्पा भी ।
आस्तिक्य सहित ये पाँचों होते हैं लक्षण 'सम्यक्त्व' के ही ।। १ ।।

१. उपशम (अनन्तानुबन्धी – क्लिष्टतम – महा–कषायों – क्रोध, मान, माया और लोभ – रूपी चारित्रमोहनीयकर्म को उदय करने वाले मिथ्याभिनिवेश की मंदता), संवेग (मोक्ष प्राप्ति की तीव्रातितीव्रतम इच्छा), निर्वेद (सांसारिकता के प्रति वैराग्य), अनुकम्पा (दीन–दुःखियों के प्रति दयालुता अर्थात् उनके दुःख को संवेदनापूर्वक महसूस करके उसे यथाशक्ति दूर करने का उपाय करना) तथा आस्तिक्य (जिनेश्वर प्रणीत धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा) – ये पाँच सम्यक्त्व के लक्षण हैं ।

ŚRĪMAJJINEŚVARASŪRI'S
PAÑCALIṄGĪ PRAKARAṆAṀ

Signs Of Right Vision –

Uvasamasaṁvego vi ya nivveo taha ya hoi aṇukampā /
Atthikkaṁ ciya pañcavi havanti Sammattaliṅgāiṁ //1//

Upaśamasaṁvegāścāpi nirvedo tathā bhavati cānukampā /
Āstikyameva pañcāpi bhavanti samyaktvaliṅgāni // 1 //

Subsidence, detachment, steadfast belief and compassion |
Five indicators of right–vision, include desire for liberation ||1||

1. The five indicators of right–vision in the Jina–faith propounded by Lords Prophet–propounders or ford makers (*Tīrthaṅkaras*) are – Subsidence (of deliberate insistence on falsehood that results in that of the most intense infinitely bonding (*Anantānubandhī*) forms of four great passions – anger, pride, deception and greed; an intense desire for spiritual emancipation and liberation from the miserable worldly existence; detachment from worldly matters; a compassionate disposition towards all living specially the miserable ones that involves appreciation of their misery and rendering all possible help to mitigate it and steadfast firmness of belief that the words of the omniscient *Jina* are gospel truths.

प्रथमलिंग : उपशम

मिच्छाभिनिवेसस्स उ नायव्वो,
उवसमो इहं लिङ्गं ।
चारित्तमोहनीयं जेण,
कसाया समाइट्ठा ।। २।।

मिथ्याभिनिवेशस्य खलु ज्ञातव्यः उपशमः इह लिङ्गम्।
चारित्रमोहनीयम् येन कषायाः समादिष्टाः ।। २ ।।

इस लक्षण को निश्चित जानो मिथ्याभिनिवेश का उपशम । क्योंकि क्लिष्ट-कषाय तो होते हैं चारित्र-मोहनीय कर्म सर्वप्रथम।।२।।

२. सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण है - 'उपशम'। मिथ्याभिनिवेश के उपशम को ही यह सम्यक्त्व का यह प्रथम लिंग जानना चाहिये। अर्थात् 'उपशम' से तात्पर्य है मिथ्याभिनिवेश (सर्वज्ञ-वचन के विपरीत अर्थ के प्रति आग्रह या पक्षपात) का उपशम। (कषाय का उपशम सम्यक्त्वलिंग नहीं है) क्योंकि कषाय (व नोकषाय) चारित्रमोहनीयकर्म कहे गए हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपशम का अर्थ मिथ्याभिनिवेश का उपशम है न कि अनंतानुबंधी कषायों का उपशम। मिथ्याभिनिवेश के शमन के फलस्वरूप अनंतानुबंधी कषायों का शमन तो हो ही जाता है।

SUBSIDENCE – THE FIRST SIGN

Micchābhinivesassa u nāyavvo uvasamo iham liṅgam /
Cārittamohaṇīyam jeṇa kasāyā samāiṭṭhā // 2 //

Mithyabhiniveśasya tu jñātavyaḥ Upaśamaḥ iha liṅgam /
Cāritramohanīyam yena kaṣāyā samāiṣṭāḥ // 2 //

Subsidence of adherence to falsehood
comes first of all |
For through it the false–belief and,
deluded conduct enthral || 2 ||

2. *Upaśama* is nothing but the subsidence of a mentality to adhere to falsehood (*Mithyābhiniveśa* or an insistence on meanings contrary to the teachings of the omniscient Lords Jina). It is the very first indicator of right–belief. The subsidence of the most persistent form of four great passions known as infinitely bonding (*Anatā–nubandhī*) form of passions is not *'Upaśama'* as is widely believed. For the passions (*Kaṣāya*) and quasi–passions (*Nokaṣāya*) are said to be the delusion of conduct and not that of vision or belief.

Therefore, a spiritual aspirant that displays acceptance of the true meaning of the teachings of the omniscient Lords Jina is said to be endowed with the quality of subsidence of falsehood or *upaśama* of *mithyābhiniveśa.*

चउवीससंतिकम्मी मिच्छाभावं
न पाउणा इहरा ।
अणउदये वा सम्मं
सासादणरूवं कहं हुज्जा ?।। ३।।

चतुर्विंशतिसत्कर्मी मिथ्याभावं न प्राप्नुयात् इतरथा ।
अनुदये वा सम्यक्त्वं सास्वादनरूपं कथं भवेत् ? ।। ३ ।।

मिथ्याभाव को प्राप्त न होता चौबीस सत्कर्मों का कर्ता ।
अन्य चार अनुदित रूपी सास्वादन–सम्यक्त्व कैसे होअथवा? ।।3।।

३. *चौबीससत्कर्मी*[१] *(सम्यक्त्वी) मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होते हैं।* यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अनुदय में सम्यक्तव सास्वादनरूप[२] कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् यदि कषायों के उपशम को सम्यक्तव का लक्षण मानते हैं तो चौबीस कषायमोहनीयकर्मों की सत्ता वाला सम्यग्दृष्टि आत्मा मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं कर सकता अन्यथा अनंतानुबंधी कषायों के उदय में सास्वादनरूप सम्यक्त्व कैसे होगा ?

---

१ चौबीससत्कर्मी या चौबीस शांतिकर्मी - सम्यक्तित्वयों में मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से चार अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतियाँ नहीं होती हैं अतः उन्हें चौबीस सत्कर्मी कहा जाता है।

२ सास्वादनरूप अर्थात् सम्यक्त्व से च्युत होने पर भी मिथ्यात्व को प्राप्त न होने की अवस्था सास्वादन गुणस्थान कहलाती है। 'रूप' यहाँ लक्षण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका भाव है सास्वादन लक्षण। चौदह गुणस्थानों में यह द्वितीय स्थान पर परिगणित है।

Cauvīsasantikammī [1] *micchābhāvaṁ na pāuṇā iharā /*
Aṇaudaye vā sammaṁ sāsādaṇarūvaṁ kahaṁ hujjā? // 3 //

Caturviṁśtisatkarmī mithyābhāvaṁ na prapnuyāt itarathā /
Anudaye vā samyaktvaṁ sāsvādanarūvaṁ kathaṁ bhavet? //3//

Even with twenty–four good conduct–deluding karma types
the right–visioned one doesn't fall to falsehood |
How else is it that his vision is not clouded and
he retains traces of righteousness along with falsehood? || 3 ||

3. Any one who is not in the grip of the four most persistent kind of passions (*Anantānubandhī–kaṣāya* as a result of subsidence of false insistence), which, in turn, result in infinitely bonding karmas, is left with better twenty–four of the twenty–eight conduct deluding karmas (*Cāritramohanīya karma*) which do not result in clouding of one's right–vision. At this stage the other four types of *karma prakṛtis – Anantā nubandhī* – are dormant, otherwise how can one be at the second stage of spiritual development where one still has the lingering taste of right–belief (*Sāsvādana Samyaktva* stage)?

---

1. In a right–visioned aspirant out of twenty–eight types of conduct–deluding karma four persistent and infinitely bonding types are not present and only twenty–four good types are. Therefore, he is said to be '*Cauvīsa–santikammī*'.

ववहारहेउ लिंगं बारस तुरिए
गुणम्मि उ कसाया ।
आइल्लाण विसेसो न
दुट्ठभासाइगम्मो उ ।। ४ ।।

व्यवहारहेतुः लिङ्गं द्वादष तुर्ये गुणे तु कषायाः।
आदिमानां विशेषः न दुष्टभाषादिगम्यस्तु ।। ४ ।।

व्यवहारहेतु उपशम-लिंग है, होते केवल बारह कषाय ही चतुर्थ गुण में ।
आदिमान् (अननतानुबन्धी) विशेष नहीं, प्रवृत्ति नहीं दुष्टभाषादि में।।४।।

४. मिथ्याभिनिवेश का उपशम सम्यक्त्व का व्यावहारिक लिंग है अर्थात् इसका प्रयोजन केवल व्यवहार के लिये है, जो बाह्य साधारण लक्षणों से सूचित होता है। चतुर्थ गुणस्थान में केवल बारह कषायों (संज्वलन क्रोध, मान, माया व लोभ; अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया व लोभ तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ) की ही विद्यमानता होती है। प्रारम्भ के चार - अनन्तानुबन्धी - कषाय (क्रोध, मान, माया व लोभ) अविद्यमान होते हैं। यह विशेषता दुष्टभावों की कारणभूत नहीं होने से इस गुणस्थान में स्थित व्यक्ति की दुष्टभाषादि में प्रवृत्ति नहीं होती है।

यहाँ कषाय को सम्यक्त्व लिंग संबद्ध मानने में दो अनिष्ट-प्रसंग आते हैं - १. कषाय के सोलह भेदों में अनंतानुबंधी कषाय भी हैं जो इष्ट नहीं है, २. अनंतानुबंधी कषायों के दुष्टभावों के कारणभूत होने से दुष्टभाषाप्रयोग भी होगा। अतः कषाय को नहीं अपितु मिथ्याभिनिवेश के उपशम को ही सम्यक्त्वलिंग मानना उचित है।

Vavahāraheu liṅgaṁ bārasa turie guṇammi u kasāyā /
Āillāṇa viseso na duṭṭhabhāsāigammo u // 4 //

Vyavahārahetuḥ liṅgaṁ dvādaśa turye guṇe tu kaṣāyāḥ /
Ādimānāṁ viśeṣaḥ na duṣṭabhāṣādigamyaḥ tuḥ // 4 //

The indicator is conventional as twelve passions
characterise the fourth spiritual stage |
Distance from wickedness is due to,
the absence of initial four || 4 ||

4. This indicator (subsidence of insistence on falsehood) of right–faith is just conventional. It is as it appears outwardly. The fourth stage of spiritual evolution – that of unrestrained but rightly inclined spiritual aspirant – is characterized by the absence of four initial (extremely persistent and infinitely bonding) passions and non–indulgence in wicked speech (thoughts and acts) because this absence of initial four types of passions does not support wickedness and hence the absence of bad language, etc.

If we take the absence of passions as the indicator of right–vision, we are faced with two undesirable situations –

1. The term passion is inclusive of infinitely bonding ones also and
2. Thereby the presence of bad language, etc. is also not ruled out.

पक्खचउम्माससंवच्छर-जावज्जीवाणुगामिरूवो उ।
न खलु विसेसो अविरय तिरियगई पसंगाओ।। ५ ।।
जावज्जीवमणंता मिच्छदिट्ठी कहं लभे सम्मत्तं ? ।
देसजइणो न कहवा मणुयाउ य बद्धजोगा उ।। ६।।

पक्ष-चतुर्मास-सम्वत्सर-यावज्जीवानुगामिरूपस्तु ।
न खलु विशेषोऽविरतः तिर्यंग्गति-प्रसङ्गात् ।। ५ ।।

यावज्जीवमनन्ताः मिथ्यादृष्टयः कथं लभ्यते सम्यक्त्वम्?।
देशयतयश्च कथं वा मनुजायुर्बन्धयोग्यास्तु?।। ६।। युग्मम् ।।

पक्ष, चातुर्मास और सम्वत्सर
जीवनपर्यन्त अनुगामीरूप ।
चार-कषाय से चारगतिकामी की,
तीव्र-मन्दता के ही अनुरूप।।५।।
अनन्तानुबन्धी यदि अनुगामी आजीवन हो,
मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व क्योंकर?।
देशविरत के फिर कैसे मनुष्यायु का
बन्ध-योग न हो सुखकर?।। ६।।

'akkhacaummāsasaṁvaccharajāvajjīvāṇugāmirūvo u /
Ia khalu viseso aviraya tiriyagaī pasaṅgāo // 5 //
āvajjīvamaṇantā micchadiṭṭhī kahaṁ labhe sammattaṁ /
)esajaiṇo na kahavā maṇuyāu ya baddhajogā u? // 6 //

'akṣa–caturmāsa–saṁvatsara–
yāvajjiīvānugamāmīrūpastu /
Va khalu viśeṣo 'viratah
tiryaggati–prasaṅgāt // 5 //
Yāvajjīvamanantāḥ mithyādṛṣṭayaḥ
kathaṁ labhyate samyaktvaṁ? /
Deśayatayaśca na kathaṁ vā
manujāyurbandhayogyāstu? // 6 //

Four passions – for a fortnight, four–months,
a year or life–long a soul they tail |
And yield godly, human, animal or hellish births,
is untrue for animal birth for the part renounced || 5 ||
If persistent passion tails for life
how can there be inclination right? |
And how can the part–renounced
not get the noble human life ? || 6 ||

५-६. संज्वलनादि (संज्वलन, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण व अनन्तानुबन्धी) चार प्रकार के कषाय जीव को क्रमशः एक पक्ष (पखवाड़ा या पन्द्रह दिन का काल), चातुर्मास पर्यन्त, वर्ष पर्यन्त तथा आजीवन ग्रस्त करते माने जाते हैं फिर भी ये भाव प्रधान होने से तथा इन्हें क्रमशः देव, मनुष्य, तिर्यंच व नरक गति के कारक मानने से अविरत सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचगति में जाने का प्रसंग उपस्थित होने से इनमें विशेष भेद नहीं किया जा सकता है। और भी यदि अनंतानुबंधी कषाय को यावज्जीवन अनुगामी माना जाए तो मिथ्यात्वी जीव सम्यग्दर्शन ही किस प्रकार प्राप्त कर सकता है तथा देशविरत सम्यग्दृष्टि को मनुष्यभवबंधयोग भी कैसे हो सकता है?

यहाँ शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि यदि प्रथम सम्यक्त्वलिंग - उपशम को कषायाधारित माना जाए तो क्या-क्या विसंगतियाँ उपस्थित होती हैं। यहाँ इस बिंदु को दो उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है - प्रथमतः इन्हें अनुक्रम से देव, मनुष्य, तिर्यंच व नारक गति के कारक माने तो अविरत सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचगति में जाने का प्रसंग उपस्थित होता है (तथा पंचम गुणस्थानवर्ती देशविरत साधक के लिये भी निश्चित रूप से मनुष्यायु के बन्ध का योग नहीं होता है) जो शास्त्रसम्मत नहीं है। दूसरे यदि अनन्तानुबन्धी कषाय को भी जीव के लिये आजीवन अनुगामी माना जाय तो मिथ्यादृष्टि के लिये सम्यक्त्व उत्पन्न होने की ही कोई संभावना नहीं रहती है क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व में बाधक माना गया है।

इन सब कारणों को दृष्टिगत रखते हुवे उपशम को कषायाधारित मानना तथा कषायों को देवादिगति के हेतुरूप मानना समीचीन नहीं है।

5–6. Four types of passions – fleeting (*sañjvalana*), renouncement inhibiting (*apratyākhyānī*), renouncement blocking (*pratyākhyānā–varaṇa*) and infinitely bonding (*anantānubandhī*) are said to be tailing the living for periods of a fortnight, four months, an year and for entire life respectively and also they are believed to yield heavenly, human, animal and hellish rebirths for the souls under their influence. However this belief cannot be substantiated, because according to this belief a righteous but unrestrained living being will reborn as an animal or a subhuman creature. Also, according to this belief, if we take it that the infinitely bonding persistent passions tail a soul lifelong, how can, then, a victim of false–belief ever gain right–belief and how can a righteous and part restrained aspirant also ever gain human rebirth bonding karma?

Here, the author is trying to clarify the point that what anomalies present themselves if we take the first indicator of right–belief to be based on passions. The two examples presented here clarify this point – firstly, if the four types of passions are taken to be responsible for heavenly, human, animal and hellish rebirths, we end up with the conclusion that a righteous but unrestrained living being will gain an animal rebirth (and also that a righteous and part restrained aspirant may not gain the human rebirth), which is not in conformity with the scriptural teachings. Secondly, if the infinitely persistent passions tail a soul lifelong how can, then, a victim of false–belief ever gain right–belief?

For these reasons it is not appropriate to believe that the passions are responsible for different kinds of rebirths.

अत्तत्तरुईरूवं मिच्छत्तस्स उ
न तं अणंताणं ।
असदग्गहो तओ खलु
मिच्छाभिनिवेसओ होइ ।। ७।।

अतत्त्वरुचिरूपम् च मिथ्यात्वस्य तु
न तदनन्तानाम् ।
असद्ग्रहः ततः खलु
मिथ्याभिनिवेशात् जायते ।। ७।।

अतत्त्वरुचिरूप लक्षण मिथ्यात्व का
न होता अनन्तानुबन्धी कषाय ।
मिथ्याभिनिवेश से ही होता है
सदा असत्-अशोभन कार्य-व्यवहार।। ७।।

७. अतत्त्व के प्रति रुचि मिथ्यात्त्व का लक्षण है न कि अनन्तानुबन्धी कषाय का। निश्चय ही एस मिथ्याभिनिवेश से असद्ग्रह उत्पन्न होता है। यहाँ भी शास्त्रकार सम्यक्त्व का सम्बन्ध तत्त्वरुचि के साथ स्थापित कर रहे हैं तथा अनन्तानुबंधी कषाय के साथ नहीं।

Atattaruīrūvaṁ micchattassa u

na taṁ aṇantāṇaṁ /

Asadaggaho tao khalu

micchābhiniveso hoi // 7 //

Atattvarucirūpaṁ mithyātvasya tu

na tadanantānāṁ /

Asadgrahaḥ tataḥ khalu

mithyābhiniveśāt jāyate // 7 //

Interest in unreals indicates false faith,

not infinite passions |

Adherence to False–faith, therefore,

results in false actions || 7 ||

7. The interest in non–elemental knowledge is a sign of false–vision and false belief and not that of infinitely bonding passions – anger, pride, deceit and greed. Also, that false inclination results in impropriety and wickedness in one's activities. Here, once again the author tries to emphasize the point that the concepts of right or wrong vision are related to belief in Jina–propounded elements and not to passions.

तस्सुवसमो उ लिङ्गं सम्मत्तं
गमई जंतुणो नियमो।
त्थीबंधगा तओ एव
महाबलो पीढ़महापीढ़ा।। ८।।
इत्तो जमालिगुट्ठामाहिलमाई
वि निण्हगा सव्वे।
मिच्छाभिनिवेसाओ
मिच्छदिट्ठी पसंता वि ।। ६ ।।

तस्योपशमस्तु लिङ्गं सम्यक्त्वं
गमयति जन्तोः नियमात् ।
स्त्रीबन्धकाः तदैव[१]
महाबलः पीठ-महापीठौ ।। ८।।
अस्मात् जमालिगोष्ठामाहिलादयोऽपि
निन्हवाः[२] सर्वे।
मिथ्याभिनिवेशेण तु
मिथ्यादृष्टिः प्रशान्ताऽपि ।। ६।।

---

[१] छंद की दृष्टि से 'तदैव' को 'तदा एव' पठनीय।
[२] क. 'निन्हवोऽपलापः।' अर्थात् निन्हव का अर्थ अपलाप है।

Tassuvasamo u liṅgaṁ sammattaṁ

gamai jantuṇo niyamo /

Tthībandhagā tao eva

Mahābalo Pīḍha–Mahāpīḍhā // 8 //

Itto Jamāli–Guṭṭhāmāhilamāī

vi niṇhagā savve /

Micchābhinivesāo

micchadiṭṭhī pasantā vi // 9 //

Tasyupaśamastu liṅgaṁ samyaktvaṁ

gamayati jantoḥ niyamāt /

Strībandhakāḥ tadaiva

Mahābalaḥ Pīṭha–Mahāpīṭhau //8//

Asmāt Jamāli–Goṣṭhāmāhilādayo'pi

ninhavāḥ sarve /

Mithyābhiniveśeṇa tu

Mithyādṛṣṭiḥ praśāntā'pi // 9 //

Right faith, the souls realises,

with subsided falsehood |

For falsehood, Mahābala,

Pīṭha–Mahāpīṭha got femalehood || 8 ||

उसका उपशम ही कहलाता सम्यक्त्वलिंग जो नियम से सबको होता ज्ञात।
जिसके बिना महाबल और पीठ-महापीठ हुवे स्त्रीबंधक विख्यात।।८।।
इसी कारण से शांत-मिथ्यादृष्टि होकर भी मिथ्याभिनिवेश से ही ।
जमालि, गोष्ठामाहिलादि भी सभी 'निन्हव' रूप हुवे कुख्यात ।। ९ ।।

८-९. जहाँ अतत्त्वरुचिरूप - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र पर श्रद्धा व अनियमित आचरण - मिथ्यात्व का लेश भी न हो तथा जिसके असत्-अशोभन - सर्वज्ञवाणि के प्रतिकूल कार्यकलाप न हों व मिथ्याभिनिवेशक व्यापार - कुदेव, कुगुरु की पूजा-अर्चना, उत्सूत्र प्ररूपणा आदि - न हों ऐसे मिथ्याभिनिवेश के उपशम को ही सम्यक्त्वलिंग कहा जाता है न कि अनन्तानुबन्धी कषाय का; यह तथ्य कालानुक्रम से सभी भव्यात्माओं को नियम से ज्ञात हो जाता है। मिथ्यात्व के पूरी तरह शांत हो जाने पर भी मिथ्याभिनिवेश (मिथ्याज्ञान के प्रति अभिनिवेश या आग्रह) बना रहता है। इसी कारण से महाबल, पीठ-महापीठ को स्त्री-नामकर्म का बंध हुवा तथा जमालि, गोष्ठामाहिल आदि को निन्हवत्व प्राप्त हुआ।

यहाँ शास्त्रकार एक बार पुनः मिथ्यात्व के अतत्त्वरुचि स्वरूप पर जोर देकर उसी से मिथ्याभिनिवेश व असद्ग्रहण का होना बताते हैं तथा उसके उपशम को ही सम्यक्त्वलिंग कहते हैं न कि अनंतानुबंधीकषाय के उपशम को। वे यह भी कहते हैं कि मिथ्यात्व के शांत होने पर भी मिथ्याभिनिवेश बना रह सकता है तथा उसके कारण अपलापरूप (एक आचार्य के पास अध्ययन करके अन्य को अपना गुरु बताना अपलाप है अथवा मैं नहीं जानता आदि कहकर शास्त्र का गोपन करना भी अपलाप है)[१] निह्नवत्व (भगवद्वचनों के विपरीत श्रुत प्रतिपादन निन्हवत्व है)[२] व तज्जन्य स्त्री-नामकर्म का बंध होना बताते हैं जो कि निन्हवों के उदाहरणों से स्पष्ट है।

---

१ क. 'कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीयत्यायात्यो गुरुरित्याभिधानमपलापः।'
- भगवती आराधना, ११३.२६६.४.
ख. 'कृतश्चितकारणान्नास्ति न वेद्यतीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनम्।'
- सर्वार्थसिद्धि, ६.१०.३२७.११.

२ एकद्वयादि भगवद्वचनारोचकीनां श्रुते निन्हव संज्ञा।'
- पंचलिंगीप्रकरण, वृहद्वृत्ति, पत्र-११.

And Heretics all – Jamāli, Goṣṭhāmāhil, etc,

for their false insistence |

Even with their false–beliefs calmed,

incurred such karmic persistence || 9 ||

8–9. Non–belief in the reals and belief in non–reals, faith in false Prophets, false preceptors and false canons as well as insistence on falsehood and false actions (actions against the teachings of the omniscient Lords like worshipping the false deities, and listening to the false preachings by false preceptors and preaching against the canonical precepts, etc.) is the sign of false–belief and not that of infinitely bonding passions. Sometimes, insistence on false knowledge persists even after such falsehood is overcome. It must be borne in mind that it is not sufficient only to have the right–faith; it is also necessary to act in accordance with it. For many a false beliefed likw *Mahā bal* and *Pīṭha–Mahāpīṭha* have incurred the pestilence of female rebirths due to such falsehood promoting activities while *Jamāli* and *Goṣṭhāmāhil* became heretics for the same reason.

Here, the author again explains the first indicator of right–faith – subsidence – by saying that it is in the form of subsidence of falsehood and not that of infinitely bnding passions. He also goes on to mention that at times it is possible that even when the false–faith has been completely subsided, it is possible that the faithful may be given to insistence on false knowledge and actions. Such insistence may result in such karmic bondage that may result in female rebirths as is borne out by the examples of the heretics cited above.

ता सुत्तुत्तविउत्ता

गीयत्थनिवारिया अणाइन्ना ।

चिच्चा मिच्छाभिनिवेससाहिगा

सो उ मिच्छस्स ।। १०।।

तत् सूत्रोक्तवियुक्ताः गीतार्थनिवारिता अनाचीर्णा ।

चेष्टा मिथ्याभिनिवेशसाधिका स तु मिथ्यात्वस्य ।। १०।।

वह सूत्रोक्त अर्थ से हीन गीतार्थ-निषिद्ध और अनाचीर्ण । मिथ्याभिनिवेशसाधक चेष्टा तो हैं निश्चित मिथ्यात्व का लक्षण।। १०।।

१०. वह मिथ्याभिनिवेशसाधिका चेष्टा (अर्थात् मिथ्याभिनिवेशी की कायिक व वाचिक क्रियाएँ) सूत्रोक्तवियुक्त, गीतार्थ[१]-निवारित[२] व अनाचीर्ण[३] है। ऐसी चेष्टाएँ तो मिथ्यात्व की साधक ही होती हैं।

यहाँ शास्त्रकार मिथ्या आचार-व्यवहार में लगे हुवे साधकों पर कटाक्ष करते हुवे कहते हैं कि जो साधक सूत्रोक्त अर्थ से रहित हैं, श्रुतपारगत गीतार्थों के विरुद्ध आचरण करते हैं, अनाचारी हैं व मिथ्याभिनिवेशसाधक चेष्टाओं में निमग्न रहते हैं, वे सम्यक्त्व से युक्त होते हुवे भी उनकी चेष्टाएँ मिथ्यात्व की साधक ही होती हैं।

---

१ गीतार्थ - गीतं - सूत्रं अर्थस्तदभिधेयं तपोर्योगाद्गीतार्थः; आह च - 'गीयं भन्नइ सुत्तं अत्थो तस्सेव होइ वक्खाणं।' - प. वृ. पत्रक ५२.

२ गीतार्थनिवारिता - आगम अर्थ से विपरीत होने से श्रुतपारगियों के द्वारा कर्त्तव्य रूप से मिथ्याभिनिवेशी चेष्टा निषिद्ध है। - वही.

३ अनाचीर्ण - 'सावद्यतया गीतार्थैराख्यणीयतया ऽनादृता। - वही.

Tā suttuttaviuttā, gīyatthanivāriyā aṇāinnā /
Ciccā micchānivesasāhigā, so u micchassa // 10 //

Tat sūtroktaviyuktā,
gītārthanivāritā anācīrṇā /
Ceṣṭā mithyābhiniveśasādhikā,
sa tu mithyātvasya // 10 //

That action against scriptures,
denied by the learned and |
Proscribed by them can only promote
falsehood, what else? ||10 ||

10. Having a dig at the pretentious aspirants who are engaged in false practices, the author says that such actions as are against the scriptural dictates, that are against the preachings of the learned preceptors and that are undoable can only promote falsehood. He says that those who do not comprehend the inherent meaning of the scriptures, who oppose and torment the canon–learned, who are unrighteous in their conduct and who are always engaged in the practice of activities that go against the teachings of the omniscient prophets, accomplish only falsehood even though they may have attained the right–faith.

गिहिदिसिबन्धो तह णो हवंत, अवहरणमच्छरो गुणिसु ।
अववायपयालंबण, पयारणं मुद्धधम्माणं ।। ११ ।।
सढयाए समाइन्नं एयं, अन्नं च गीयपडिसिद्धं ।
तत्तंसज्जाणतबहुमाणा उ असग्गहो होइ।। १२।। युग्मं।।

गृहिदिग्बंधः तथा न भवन्तोऽपहरणमत्सरो गुणिषु ।
अपवादपदालम्बनं प्रतारणम् मुग्धधर्मिणाम् ।। ११ ।।

शठतया समाचीर्णमेतदन्यच्च गीतप्रतिषिद्धम् ।
तत्त्वं सद्ज्ञानबहुमानवंतः तु असद्ग्रहः भवति ।। १२।।

गृहियों को देते उपदेश, गुण्योपहरण का मात्सर्य व मिथ्याचार।
अपवादालंबन व धर्ममुग्धों को मृषोपदेश शठता का व्यवहार।। ११।।

मायावृत्त निषिद्धतत्त्व-गीतार्थ तो करते अपने ज्ञान का अभिमान।
ऐसा करना भी तो निश्चित ही, असद्ग्रह होता है - जान ।। १२ ।।

११-१२. श्रावकों को उपदेश देने वाले आचार्य वैसा करते हुए यदि गुणी श्रावकों को अन्य मार्ग से अपने मार्ग में लाने हेतु अपहरण करते हैं तो वह गुणियों के प्रति मात्सर्य है, और धर्म के प्रति मोहित हुए व्यक्तियों को अपवाद पदों का आलम्बन करवाना ठगी करना है। दूसरे, माया से आवृत्त गीतार्थों के द्वारा निषिद्ध तत्त्व और सद्ज्ञान के अभिमान से युक्त होना तो असद्ग्रह है।

Gihidisibandho taha ṇo havanta,
avaharaṇamaccharo guṇisu /
Avavāyapayālambaṇam,
payāraṇaṁ muddhadhammāṇaṁ //11//
Sadhayāe samāinnaṁ eyaṁ, annaṁ ca gīya paḍisiddhaṁ /
Tattaṁsajjāṇatabahumāṇā u, asaggaho hoi // 12 //

Gṛhidigbandhaḥ tathā na bhavanto'paharaṇamatsaro guṇiṣu /
Apavādapadālambanaṁ pratāraṇaṁ mugdhadharmiṇāṁ // 11 //
Śaṭhatayā samācīrṇametadanyacca gītapratiṣiddhaṁ /
Tattvaṁ sadjñānabahumānavantaḥ tu asadgrahaḥ bhavati //12 /

For jealousy, the preaching monks abduct the virtuous and |
Preach falsehood to the faith–deluded, like a brigand || 11 ||
Pride in own false knowledge by the deceitful preceptors |
Is nothing but false conduct, know this O' Masters || 12 ||

11–12. If the preaching masters abduct (forcefully convert) the virtuous followers from the other faiths, it is nothing but jealousy towards them. Again, to preach falsehood to the ones so enticed is decidedly deceitful and mischievous. The pride of such deceitful masters in their knowledge – true or false – is nothing but false conduct.

सढयाइ पक्खसाहणजुत्ती वि, असग्गहो मुणेयव्वो ।
जणरंजणत्थपसमो न होइ, समत्तगमओ उ ।। १३ ।।

शठतया पक्षसाधनयुक्तिरपि, असद्ग्रहो ज्ञातव्यः।
जनरंजनार्थप्रशमो न भवति, सम्यक्त्वगमकस्तु ।। १३ ।।

मायावी पक्षसाधनयुक्ति भी, असद्ग्रह होती है जानो ।
जनरंजनार्थ बाह्याचार भी, होता नहीं सम्यक्त्वकर मानो।। १३ ।।

१३. दूसरों को प्रभावित करने के लिये मायापूर्वक, धूर्ततापूर्वक स्व-पक्ष साधन हेतु युक्तियों का प्रयोग भी असद्ग्रह अर्थात् मिथ्याभिनिवेशक ही होता है तथा लोकरंजन के लिये, दिखावे के लिये बाह्याचार का उत्कृष्ट पालन भी सम्यक्त्वकारक नहीं होता है। यह बात जानने और मानने योग्य है।

।। इति प्रथमलिंगम् ।।

Saḍhayāi pakkhasāhaṇajuttī vi asaggaho muṇeyavvo /
Jaṇarañjaṇatthapasamo na hoi, samattagamao u //13 //

Śaṭhatayā pakṣasādhanayuktirapi,
asadgraho jñātavyaḥ /
Janarañjanārthapraṣamo na bhavati
Samyaktvagamakastu // 13 //

Deceivingly to put forth own viewpoint,
is false action, know |
Action for others' satisfaction,
isn't righteousness but a show || 13 ||

13. To put forth own viewpoint not clearly but deceitfully, too, amounts to promoting falsehood because it is deception – the third passion. Also, to act correctly not for self–emancipation but for the satisfaction of others or fear of the public opinion is not right–faith but a stage show. The monk who does such things is not an ascetic but an actor.

(END OF DESCRIPTION OF THE FIRST SIGN)

द्वितीयलिंग : संवेग

सम्मदिट्ठी जीवो, कम्मवसा विसयसंपउत्तो वि।
मणसा विरत्तकामो, ताण सरूवं विचिंतेइ ।। १४ ।।

सम्यग्दृष्टिः जीवः, कर्मवशात् विषयाः संप्रयुक्तोऽपि ।
मनसा विरक्तकामस्तेषां स्वरूपं विचिन्तयति ।। १४ ।।

सम्यग्दृष्टि-जीव यदि कर्मवश, विषय-भोग करे तो भी ।
मनसे रहे विरक्त और, करे स्वरूप-चिंतन उनका ही ।। १४।।

१४. सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदय से विषयों में आसक्त व प्रवृत्त होता हुआ भी मन से विरक्तकाम रहता है क्योंकि वह विषयों के स्वरूप का विचार (चिंतन) करता है।

भावार्थ - मिथ्याभिनिवेश के उपशम से जिसका सम्यक्त्व प्रतिष्ठित है ऐसा भव्य-सत्व - सम्यग्दृष्टि-जीव - यदि चारित्रमोहनीय कर्मवशात् विषय-भोग करता है तो भी ऐसा करते हुए भी वह मनसे सदा विरक्त रहता है और उनके वास्तविक - भव भ्रमणकारी - स्वरूप का ही चिंतन करता रहता है ।

DESIRE FOR LIBERATION :

THE SECOND SIGN

Sammadiṭṭhī jīvo, kammavasā visayasampauttovi /
Maṇasā virattakāmo, tāṇa sarūvaṁ vicintei // 14 //

Samyagdṛṣṭiḥ jīvaḥ, karmavaśāt viṣayasamprayukto'pi /
Manasā viraktakāmasteṣāṁ svarūpaṁ vicintayati // 14 //

The rightly inclined soul even when,

destined to enjoy sensual pleasures |

Remains detached from within and,

thinking about them, himself he censures || 14 ||

14. The rightly inclined soul, whose belief in the right–faith is well–established due to subsidence of the falsehood promoting activities, even when destined to enjoy sensual pleasures due to the fruition of conduct deluding karma, and pleasurable yielding karma, remains detached from within and constantly reflecting upon their real karma–bonding nature, censures himself for doing so.

आवायसुंदरावि हु,

भाविभवासंगकारणत्तणओ ।

विसया सप्पुरिसाणं,

सेविज्जंता वि दुहजणया।। १५।।

आपातसुन्दरा अपि नु

भाविभवासङ्गकारणत्वात् ।

विषयाः सत्पुरुषाणां

सेव्यमानापि दुःखजनकाः ।। १५।।

लगते मधुर किंतु निश्चित ही, होते हैं भावी भव-परम्परा कारक ।
सत्पुरुषों के लिये विषय तो, सेवित भी हैं दुःखदायक ।। १५।।

१५. आपाततः (प्रथमदृष्टया) इन्द्रियों को मधुर प्रतीत होने वाले विषय भी भावी (भविष्य में) जन्म-परम्परा (जन्म-मृत्यु रूपी भव-भ्रमण) के कारण होने से ये विषय सत्पुरुषों द्वारा सेवित किये जाने पर (भोगे जाने पर) भी दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं। अर्थात् ये विषय अन्ततः कायिक और मानसिक परिताप को उत्पन्न करते हैं तथा आगे भी नरकादि में ले जाने वाले होते हैं।

Āvāyasundarāvi hu,

bhāvibhavāsaṅgakāraṇattaṇao /

Visayā sappurisāṇaṁ,

sevijjantā vi duhajaṇayā // 15 //

Āpātasundarā api nu,

bhāvibhavāsaṅgakāraṇatvāt /

Viṣayā satpuruṣāṇāṁ,

sevyamānāpi duḥkhajanakāḥ // 15 //

Pleasurable they look but, certainly,

yielding worldly wandering |

The sensual enjoyments remain,

miserable for the rightly inclined || 15 ||

15. Even though the sensual pleasures appear to be enjoyable initially, for the gentle and the rightly inclined, too, the enjoyed sensory pleasures remain a source of misery due to their inherent nature of yielding the mundane transmigratory wanderings in the miserable world.

हा धी विलीणबीभस्सकुस्सणिज्जम्मि रमइ अंगम्मि।
किमिकव्व एस जीवो, दुहं पि सुखंतिमन्नंतो ।। १६।।

हा! धिक् विलीनबीभत्सकुत्सिते रमतेऽङ्गे।
कृमिवच्च एष जीवः दुःखमपि सुखं मन्यते ।। १६।।

धिक्कार ! कि दुर्गन्धित-बीभत्स-हेय अंगों में,
रमण करता जीव निरन्तर।
कृमिसम दुःख को भी,
सुख मानने को सदा तत्पर।। १६।।

१६. अरे धिक्कार है! कि यह जीव सतत प्रवाहित दुर्गन्धित (मवाद, पीव, प्रदर - श्वेत पानी, आदि से), बीभत्स (जुगुप्सनीय या घृणित) व कुरूप (देखने में असुन्दर) ऐसे (जनन)अंग में कीटवत् दुःख को भी सुख मानता हुआ रमण (संभोगक्रीड़ा) करता है।

भावार्थ : शास्त्रकार इंद्रिय-विषयों (भोग-विलास) की वास्तविकता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि यह जीव 'विलीन' अर्थात् निरन्तर स्रवण-प्रसवण से दुर्गन्धित, 'बीभत्स'-घृणास्पद, 'कुत्सनीय'-निन्दनीय ऐसे अंगों में रमण करता है। कृमि जिस प्रकार व्रण में रमता है उसी प्रकार कृमिक के समान ही यह जीव भी दुःख (कष्टकारी संभोग) को सुख मानता है। (अर्थात् वह मृगतृष्णा में जल की आशा में भ्रमित के समान स्त्री अंगों से प्राप्त दुःख में भी सुख मानता है।)

Hā dhī vilīṇabībhassakussaṇijjammi

ramai aṅgammi /

Kimikavva esa jīvo duhaṁ pi

sukhaṁti mannanto //16 //

Hā! dhik vilīnabhībhatsakutsite ramate 'ṅge /

Kṛmivacca eṣa jīvaḥ duḥkhamapi saukhaṁ manyate // 16 //

Hā ! fie on this creature engrossed in foul,

disgusting and evil indulgence |

Like a worm this creature takes,

the pain as pleasurable dalliance || 16 ||

16. Hā! fie on this indulgent creature who indulges in the sensual pleasures of the (sexual) organs that are foul–smelling, ugly, and repulsive. Like a worm it believes that the pain of the sensual indulgence is pleasure.

Here, the author deplores the thoughtless sensual indulgence and says that the creature who remains engrossed in the indulgence of the (sex–organs that also duplicate as urinary–excretory) organs that are malodorous, disgusting and deplorable. Like a worm feels pleasure in worming through a wound, this indulgent creature also feels pleasure in painful act of sensual indulgence.

ता ताण कए दुःखसयनिबंधणं,

भयइ बहुविहं जीवो ।

आरंभमह परिग्गहमओ वि,

बंधो वि पावाणं।। १७।।

तस्मात् तेषां कृते दुःखशतनिबन्धनं भजते बहुविधं जीवो।
आरम्भमथ परिग्रहमपि बन्धोऽपि पापानाम् ।। १७।।

उस सुखाभास की ख़ातिर जीव, सैकड़ों दुःखों को भी नहीं नकारता ।
आरम्भ परिग्रहमय होकर वह पापों के बन्ध भी स्वीकारता ।। १७।।

१७. वह (जीव विचित्र है जो) उन विषयों के सैंकड़ों दुःखों को अनेक प्रकार से स्वीकार करता है, तथा आरंभ और महान परिग्रह (विविध वस्तुओं का संग्रह) करके पापकर्म का बन्ध करता है।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार इस विडम्बना की ओर इशारा करते हैं कि दुःख में भी सुख जताने के कारणभूत उन विषयों के लिये जीव अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक आदि दुःखों के कारणभूत व्यापार, वाणिज्य आदि आरम्भ और संग्रह आदि करके परिग्रहमय होकर पापों के बन्धनों को भी स्वीकार करता है।

Tā tāṇa kae duḥkhasayanibandhaṇaṁ,

bhayai bahuvihaṁ jīvo /

Ārambhamaha pariggahamao vi,

bandho vi pāvāṇaṁ // 17 //

Tasmāt teṣāṁ kṛte duḥkhaśatanibandhanaṁ

bhajate bahuvidhaṁ jīvo /

Ārambhamath parigrahamapi,

bandho'pi pāpānāṁ // 17 //

What a wonder! that he accepts hundreds of miserable pains | Of working hard, accumulation and of karmic bondage ||17 ||

17. For that illusion of pleasure where the soul takes the pain of sensual indulgence as pleasure, the hapless creature indulges in many a bodily and mentally painful activity of sinful trade and (dishonest) business etc as well as undue accumulation and attachment thereof and, thus, also accepts the resultant karmic bondage. Here, the author establishes a cause and effect relationship between desire for sensual pleasures and sinning and accumulation.

तो नरयवेयणाओ, तिरियगईसंभवा अणेगाओ।
ता जरियजंतुणो मज्जियाए पाणोवमा विसया।। १८।।

तस्मान्नरकवेदनाः तिर्यग्गतिसंभवाः (खलु) अनेकाः।
ताः ज्वरितजन्तोः मार्जितायाः पानोपमाः विषयाः।। १८।।

जैसे ज्वरित व्यक्ति को होता है, शीतल जल पीड़ादायक। वैसे ही विषयभोग भी, होते हैं नरकतिर्यग्गत्यादि दुःखदायक ।। १८।।

१८. उस कारण से (आरंभ-समारंभ व महापरिग्रह करने से) नरक और तिर्यग्गति (पशु-पक्षी आदि भवों) में जन्म लेने के कारण होने वाली वेदनाएँ अनेक होती हैं। विषय वैसे ही होते हैं जैसे कि ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति के लिये शीतल स्नान-जल। जैसे ज्वरित व्यक्ति को प्रारंभ में शीतल जल का स्नान सुखकर लगता है किंतु अन्ततः वही उसके लिये घातक हो जाता है। उसी प्रकार विषय भी भोगने में सुखकर प्रतील होते हैं किंतु परिणाम में दारुण दुःख देने वाले होते हैं। उनके फलस्वरूप होने वाले पापबन्ध से जीव को नरक की तीव्र यातनाएँ तथा तिर्यंच गति में उत्पत्ति आदि अनेक वेदनाएँ होती हैं।

अथवा - जिसप्रकार ज्वरयुक्त व्यक्ति के लिये मार्पित अर्थात् मीठी-मधुर ओर शीतल मुखरोचक तथा पीने योग्य स्वादिष्ट पेय का भी परिणाम दारुण होता है, वैसे ही विषय आपाततः (प्रथम दृष्टया) अच्छे लगने पर भी विषय-भोग दारुण परिणाम वाले होते हैं। अतः हेय हैं, त्याज्य हैं।

To narayaveyaṇāo, tiriyagaīsambhavā aṇegāo /
Tā jariyajantuṇo majjiyāe pāṇovamā visayā // 18 //

Tasmānnarakavedanāḥ tiryaggatisambhavāḥ (khalu) anekāḥ /
Tāḥ jvaritajantoḥ mārjitāyāḥ pānopamāḥ viṣayāḥ // 18 //

As, for a fevered person, cold water bath or drink is harmful |
So are the sensual enjoyments : ultimately painful || 18 ||

18. Therefore, (because of the sinful activities) the creature suffers various pains and miseries of hellish births and births in subhuman (animal, birds, fishes, insects, etc.) species. Just as cold–water bath or drink feels good to a fevered person but proves fatal ultimately, so do the sensual pleasures – appear pleasurable initially but result in pain and misery ultimately.

Here, the author has drawn a beautiful simile. He says that the sinful karmic bondage bonded by indulging in such sensual enjoyments ultimately yield hellish and subhuman rebirths where the soul experiences extreme pain and misery. Just as the cold water bath and the most delicious and cold and fragrant drinks only harm and increase the ailment of a fevered person, so the apparently pleasurable sexual indulgence, ultimately, result in pain and misery in those hellish and subhuman rebirths.

जइ हुज्जइ गुणो विसयाण
को वि तित्थयरचक्किबलदेवा ।
जुत्तत्तणंपि विसए चएउं
अब्भुट्ठिया कहं णु ।। १९।।

यदि भवेत् गुणः विषयाणां कोऽपि तीर्थङ्कर-चक्किबलदेवाः।
जीर्णतृणमिव विषयाः त्यक्तुं अभ्युत्थिताः कथं नु ।। १९।।

यदि विषयों में होता गुण, क्यों त्यागते तीर्थङ्कर, चक्री, बलदेव ?।
जीर्णतृण सम त्याग विषयों को, क्यों करते आत्मोद्यम अनेक?।। १९।।

१९. यदि विषयों (अर्थात् विषयों के भोग) में कोई (एक) भी गुण होता तो तीर्थंङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव (आदि महापुरुष) इन्हें जीर्ण तृण (सूखे तिनके) के समान छोड़ने के लिये उद्यत (तैयार) कैसे होते?

भावार्थ : यदि विषयों का, सेवन करने वालों के प्रति उपकारक होने का अतिशय रूप, कोई भी गुण होता तो ऋषभादि तीर्थङ्कर, भरतादि चक्रवर्ती तथा अचलादि बलदेव आदि अनन्य भोगों के धनी क्योंकर उन भोगों को जीर्णतृणवत् त्यागने के लिये उद्यमशील होते ? जिस प्रकार अत्यन्त जीर्ण (सड़ी-गली) घास असार होने से उसे छोड़ने में किसी को कोई कष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार विरक्त महात्माओं के लिये उन विषयों का त्याग भी किंचित् भी कष्टकर नहीं है। विषयों में रंचमात्र भी गुण नहीं होने से वे उन्हें हेय, व त्याज्य समझते हैं।

Jai hujjai guṇo visayāṇa ko vi titthayaracakkibaladevā /
Juttattaṇaṁpi visae caeuṁ abbhuṭṭhiyā kahaṁ ṇu // 19 //

Yadi bhavet guṇaḥ viṣayāṇāṁ ko'pi
tīrthaṅkaracakribaladevāḥ /
Jīṇatṛṇamiva viṣayāḥ tyaktuṁ
abhyutthitāḥ kathaṁ nu // 19 //

Merit, if any, there was in
carnal pleasures crass |
Why would *Tīrthaṅkara, Cakravartī* and *Baladeva*
discard them as rotten grass ? || 19 ||

19. If the enjoyment of carnal sensual pleasures had any merit in them why would the great and noble souls like the prophets (*Tīrthaṅkaras*), kings emperors (*Cakravartins*) and *Baldevas* (another category of righteous and noble souls included amongst the sixty–three commendable personalities – *Trisaṣṭi–śalākā–puruṣa*) discard them as any one would discard worthless rotten grass. This clearly means that the carnal pleasures not only have no merit in them but they are positively harmful in the ultimate analysis, and ought to be given up.

विसयासासंदामियचित्तो

विसयेहिं विप्पउत्तोवि ।

परिभमइ कंडरीओव्व

नियमओ घोरसंसारे ।। २०।।

विषयाशया संदामितचित्तो विषयैः विप्रयुक्तोऽपि।
परिभ्रमति कण्डरीकरिव नियमतो घोरसंसारे ।। २०।।

विषय दूर अप्राप्य विषयों से आशन्वित चित्त भी दुःखदायी अतिभारी ।
बंधा विषयों से 'कण्डरीक' सम भ्रमता जीव बन घोर-संसारी।। २०।।

२०. विषयभोग की आशा से संदमित (पशुवत् आशाओं के पाश में झकड़ा हुआ) चित्तवाला व्यक्ति विषयों से दूर होते हुए भी 'कण्डरीक' नामक राजा के समान निस्संदेह घोर-संसार (अति भीषण नरकादि गतियों) में भटकता रहता है।

भावार्थ : विषयभोग तो दूर, विषयभोगों की आशा, उनकी इच्छा, उनकी लालसा भी अत्यंत दुःखदायी है। जिसप्रकार रस्सी से बंधा हुआ पशु दुःखी होता है, वैसे ही भोग-तृष्णा से बंधे हुवे चित्त वाला व्यक्ति विषयों के अप्राप्त होने पर भी, उनका भोग नहीं कर पाने पर भी क्लेश को प्राप्त होता है, तथा कण्डरीक राजा के समान संसार-सागर में रुलता रहता है।

Visayāsandāmiyacitto

visayehiṁ vippauttovi /

Paribhamai Kaṇḍarīovva

niyamao ghorasaṁisāre // 20 //

Visaṛāsaýā sandāmitacitto viṣayaiḥ viprayukto'pi /

Paribhramati Kaṇḍarīkariva niyamato ghorasaṁisāre // 20 //

Not the carnal pleasures but expectation of

the unavailable ones, too, is painful, know |

Like *Kaṇḍarīka,* tied down to carnal desires

the soul wanders the world for sure || 20 ||

20. Leave aside the enjoyment of carnal pleasures even their expectations and desires cause great misery. Just like an animal tethered with a rope suffers, the soul that is tied down to the carnal desires suffers and keeps wandering, life after life, in the terrible world. As king *Kaṇḍarīka* who wandered due to the worldly transmigration due to his deep attachment to even unavailable worldly pleasures, the expectant soul also wanders in miserable destinations like hells and subhuman species. Therefore, the desires for worldly pleasures are also worth giving up only.

ता अलमिमेहिं मज्झ अज्जं कल्लं च दे चइस्सामि ।
मुक्खसुहाओ किमन्नं परमत्थेणत्थि सुक्खं ति ।। २१।।

तस्मादलमेभिः ममाद्यश्व चेह त्यक्ष्यामि।
मोक्षसुखात्किमन्यत् परमार्थेनास्ति सुखमिति।। २१।।

अतः बस कर, छोड़ इन्हें, ये आज नहीं तो कल छूटेंगे। परमार्थ में मोक्ष ही सुख है, जिसमें सारे बंधन टूटेंगे।। २१।।

२१. उस कारण (अर्थात् विषय भोग की इच्छा या आसक्ति के भयंकर नरकादि गतियों का कारण होने) से मुझे इन विषय-भोगों के आस्वादन से बस करना चाहिये क्योंकि ये आज नहीं तो कल तो छूटने ही वाले हैं। आखिर मोक्षसुख के अतिरिक्त दूसरा वास्तविक सुख कौनसा है?

अथवा : उस कारण से मुझे इन विषयों से कोई तात्पर्य नहीं है। अतः (प्रव्रज्या स्वीकार करके) मैं आज नहीं तो कल इनका त्याग करूंगा ही। क्या वास्तव में मोक्षसुख से बढ़कर अन्य कोई सुख है?

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार संसार की भयावहता का चित्रण करने के पश्चात् पाठक को ससांसारिक सुखों व उनकी तृष्णा का भी त्याग करके सच्चे व वास्तविक मोक्षसुख की खोज रूपी संवेग को धारण करके निवृत्ति के मार्ग पर बढ़ने के लिये प्रेरित करते हैं।

Tā alamamiehiṁ majjha ajjaṁ kallaṁ ca de caissāmi /
Mokkhasuhāo kimannaṁ paramattheṇatthi sukkhaṁ ti // 21//

Tasmādalamebhiḥ mamādyaśva ceha tyakśyāmi /
Mokṣasukhātkimanyat paramārthenāsti sukhamiti // 21 //

Enough, therefore, of these pleasures
that I must give up today or tomorrow |
What pleasure can equal liberation?
all the rest is profound sorrow || 21 ||

21. It is for this reason that I must not have anything to do with such (misery giving) sensual worldly pleasures. Today or tomorrow I must give them up (in favour of accepting monastic ordination in order to lead a perfectly restrained life and seek spiritual emancipation). After all, which pleasure can equal the ultimate bliss of liberation?

Here, after describing the miserable nature of worldly pleasures, the author urges the reader to strive for the ultimate pleasure of liberation through spiritual emancipation and sooner or later to accept monasticism in order to get that ultimate goal.

अक्खयमकिलेससाहणमलज्जणीयं विवागसुंदरीयं।
परमसुहमिमाहिंतो णंताणंतेहिं संगुणियं ।। २२।।
मुक्खस्स सुहं ता तस्स साहणे इद्दहुज्जमो जुत्तो।
धन्न तिव्विय परमत्थसाहगा साहुणो निच्चं।। २३।।

अक्षयमक्लेशसाधनमलज्जनीयं विपाकसुन्दरम्।
प्रशमसुखमस्मादनंतानन्तैः सङ्गुणितम् ।। २२ ।।
मोक्षस्यसुखं तस्मात् तस्य साधने इदानीमुद्यमो युक्तः।
धन्या त्रिविधपरमार्थसाधकाः साधवः नित्यम्।। २३ ।।

अक्षय, अक्लेशसाध्य, अलज्जनीय, और विपाक में सुन्दर।
ऐसा तो प्रशमसुख है, उससे भी अनन्तगुण है मोक्ष सुखकर।। २२।।

इसलिये मोक्षसुख के लिये प्रयत्न करना है युक्त।
ऐसे परमार्थसाधक हैं सदा धन्य, और वे ही होते हैं मुक्त ।। २३।।

२२-२३. मोक्षसुख अक्षय, अकष्टसाध्य, अलज्जनीय और विपाक में सुन्दर (परिणाम में सुख विपाक वाले) प्रशमसुख से भी अनन्तगुणा सुख देनेवाला है। अतः वर्तमान में मोक्षसुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना उपयुक्त है, क्योंकि वही वास्तविक सुख है (अन्य सुख तो मात्र सुखाभास हैं)। वे परमार्थसाधक साधु धन्य हैं जो सदा तीन प्रकार से (दर्शन, ज्ञान, चारित्र से) उस (मोक्षसुख) की साधना करते हैं।

Akkhayakilesasāhaṇamalajjaṇīyaṁ vivāgasundarīyaṁ /
Paramasuhamimāhinto ṇantāṇantehiṁ saṅguṇiyaṁ // 22 //
Mokkhassa suhaṁ tā tassa sāhaṇe iddahujjamo jutto /
Dhanna–tivviya paramatthasāhagā sāhuṇo niccaṁ // 23 //

Akṣayamakleśasādhanamalajjanīyaṁ vipākasundaraṁ /
Praśamasukhamasmādanantānantaiḥ saṅguṇitaṁ // 22 //
Mokṣasya sukhaṁ tasmāt tasya sādhane idānīmudyamo yuktaḥ /
Dhanyā trividhaparamārthasādhakāḥ sādhavaḥ nityaṁ // 23 //

Subsided passions give pleasure easy, unashamed and intact |
The pleasure of liberation is infinite times in effect || 22 ||
Therefore, sensible it is to pursue the goal of emancipation |
And, glory be to them that seek, such glorious liberation || 23 ||

22–23. The pleasure of spiritual emancipation and resultant liberation from mundane existence is infinite times the pleasure of subsided passions, which by itself is greatly pleasurable, can be sought painlessly, is free of any blemish or shame and is good and beneficial in result. Therefore, it is quite logical that we pursue the goal of such spiritual emancipation. Praised are such monks that follow the threefold path comprised of right–vision, right–knowledge and right–conduct to this end.

पिहियासवा तवड्ढा धणियं
किरियासु संपउत्ता उ ।
रागदोसविउत्ता भवतरु-
निसियासिणो धीरा ।। २४।।

पिहितास्रवाः तपाढ्या धणितं क्रियासु सम्प्रयुक्तास्तु।
रागद्वेषवियुक्ता भवतरु-निशितासयः धीराः ।। २४।।

आस्रवरुद्ध संवरसाधक, तपोधनी, क्रियाओं में सतत निरत।
वीतराग-द्वेष, भवतरुछेदक तीक्ष्णकृपाणसम धीरसाधु होते विरत।।२४।।

२४. संवर द्वारा कर्मास्रव को रोकने वाले, तपरूप धनवाले तपोधनी, अपने सम्यक्चारित्र के पालन में तत्पर श्रमणाचार की क्रियाओं के पालन में सदैव रत रहते हुए भी जो राग-द्वेष से रहित होकर वीतराग हैं, ससांर रूपी वृक्ष को काटने के लिये जो तीक्ष्ण तलवार के समान हैं, ऐसे धीर (साधु) पुरुष होते हैं जो (मोक्ष-मार्ग की साधना में सतत प्रयत्नशील रहते हैं)।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि संवर, तप व चारित्र संपदा से युक्त धैर्यवान साधुपुरुष ही संसार में रहते हुए भी संसार से निरपेक्ष रहकर राग और द्वेष से मुक्त होकर संसार रूपी वृक्ष को काटकर मुक्ति की ओर अग्रसर होने में समर्थ हो पाते हैं। अतः साधक को अपने चरित्र में इन गुणों का विकास करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

Pihiyāsavā tavaḍḍhā dhaṇiyaṁ
kiriyāsu saṁpauttā u /
Rāgadosaviuttā bhavataru–
nisiyāsiṇo dhīrā // 24 //

Pihitāsravāḥ tapāḍhyā dhaṇitaṁ
kriyāsu samprayuktastu /
Rāgadveṣaviyuktāḥ bhavataru–
niṣitāsayaḥ dhīrāḥ // 24 //

Influx stopped, greatly penant, and
adherent practitioner of monastic vows |
Detached, and like an axe to fell the worldly tree,
to the patient one the world bows || 24 ||

24. Describing the qualities of an aspirant for spiritual emancipation and ultimate liberation, the author says that only those patient ones who stop the karmic influx by self–restraint, those who shed the karmic bondas by practicing grave penance, those who steadfastly adhere to their monastic vows, and even while leading a worldly life remain perfectly detached and free of attachment and aversion towards any thing or being, attain the desired goal of spiritual emancipation and consequent liberation.

कइया होइ सो वासरुत्ति गीयत्थगुरुसमीवंमि।
सव्वविरयं पव्वज्जिय विहरिस्सामि अहं जम्मि।। २५।।

कदा भविष्यति स दासरः गीतार्थगुरुसमीपे[1]।
सर्वविरतिं[2] प्रपद्य विहरिष्याम्यहं[3] यस्मिन् ।। २५।।

कब होगा वह दिन जब मैं, गीतार्थ गुरु के समीप।
सर्वविरति-संयम धारणकर विचरूंगा, और बनूंगा आत्मप्रदीप।। २४।।

२५. वह दिन कब होगा (आएगा) जिसदिन मैं गीतार्थ (आगम-शास्त्रज्ञानी) गुरु के समीप (की निश्राय में) सर्वविरतिरूप श्रमणचारित्र को धारणकर (ग्रहणकर) विहार करूंगा?

यहाँ शास्त्रकार मुमुक्षु पाठक की उस भावना का उल्लेख करते हैं जिसका उदय सांसारिक सुखों के पीछे भागने में अंततोगत्वा दुःख ही प्राप्त होने का बोध होने के पश्चात् व इस असार संसार से मुक्ति पाने की इच्छा के साथ होता है। अतः वह शास्त्रज्ञानी व उसे सही मुक्तिमार्ग दिखलाने की क्षमता वाले गुरु के पास शीघ्रतिशीघ्र प्रव्रजित होने की भावना भाता है।

---

[1] गीतार्थगुरुसमीपे = बहुश्रुतविहिताचार्यसमीपे। - देखें 'पंचलिंगीप्रकरणम्' पर वृहद्वृत्ति, पृ. ६३।

[2] सर्वविरतिं = भगवतीं भावदीक्षाम्। जैन परंपरा में प्रचलित दीक्षा अर्थात् प्रवृज्याग्रहण।

[3] छंद की दृष्टि से 'विहरिष्याम्यहम्' को 'विहरिष्यामि अहम्' के रूप में पठनीय है।

Kaiyā hoi so vāsarutti gīyatthagurusamīvammi /
Savvavirayami pavvajjiya viharissāmi ahami jammi // 25 //

Kadā bhaviṣyati sa vāsaraḥ gītārthagurusamīpe /
Sarvaviratiṁ prapadya vihariṣyāmi ahaṁ yasmin? // 25 //

When will the day dawn when I shall
near the canon–learned guru of esteem |
Take my all–renouncing vows, and
go about obeying him at full steam? || 25 ||

25. When will that day dawn when I shall take the all (violence, untruth, acceptance of the ungiven, sensual indiscipline and attachment actuated encumbrance) renouncing monastic vows at the hands of a canon–learned spiritual master (capable of leading me to spiritual emancipation and subsequent liberation from the miserable mundane existence) and go about my monastic duties wholeheartedly.

Here, the author makes a mention of that desire of the aspirant reader who has realised the ultimately painful nature of the worldly pleasures, who now stands disillusioned and seeks the monastic path to attain his goal of emancipation and liberation.

धी धी मज्झ अणज्जस्स इंदियत्थेसु संपउत्तस्स।
परमत्थवेरिएसु वि दाराइसु गाढरत्तस्स।। २६।।

धिग् धिग् मम अनार्यस्य इन्द्रियार्थेषु संप्रयुक्तस्य ।
परमार्थवैरिष्वपि दारादिषु गाढरक्तस्य ।। २६।।

धिक्कार है, धिक्कार मुझ अज्ञानी-अनार्य को,
जो इंद्रियसुख में ही रहता निमग्न ।
जो परमार्थ के वैरी हैं परम,
उन पुत्रकलत्रादि में अतिआसक्त अतिमग्न।। २६।।

२६. इंद्रियों के विषयों में अतिआसक्त रहने वाले, व परमार्थ (आत्मकल्याण) के परम वैरी ऐसे स्त्री-पुत्र-परिवारादि में ही तीव्र अनुरक्ति (आसक्ति) रखने वाले मुझ अनार्य को धिक्कार है! धिक्कार है!! बारंबार धिक्कार है।

इस गाथा में शास्त्रकार आत्मकल्याण में बाधक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इंद्रियसुखोत्पादक सांसारिक विषयों व भोग-विलास के साधनों के प्रति अत्यंत आसक्ति, उनकी तीव्र लालसा व उन्हीं में ध्यान लगाए रहना एक प्रकार की बाधा है; दूसरी बाधा है पत्नी-पुत्र, घर-परिवार, नाते-रिश्ते, आदि के प्रति अत्यंत आसक्ति का भाव। ये दोनों प्रकार की बाधाएँ व्यक्ति को संसार की असारता का बोध हो जाने के उपरांत भी विरक्त होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर नहीं होने देती हैं।

Dhī dhī majjha aṇajjassa indiyatthesu sampauttassa /
Paramatthaveriesu vidārāisu gāḍharattassa // 26 //

Dhig dhig mama anāryasya
indriyārtheṣu saṁprayuktasya /
Paramārthaveriṣvapi
dārādiṣu gāḍharaktasya // 26 //

Fie on me again and again for
being deeply engrossed in sensual pleasures |
For remaining strongly attached to,
worldly ties that hinder emancipation || 26 ||

26. I remain deeply engrossed in senual pleasures, I remain strongly attached to the worldly relations like wife, sons, family, friends, etc the ties that hinder my spiritual emancipation and liberation. Fie on me, again and again.

Here, the author gives an eloquent expression to the lament that an indulgent aspirant feels at his inability to give up the sensual pleasures and worldly ties that hinder his spiritual emancipation and ultimate accomplishment of liberation from the misery of worldly existence.

इइ भावणासमेओ विरत्तकामो पयट्टमाणो।
कम्मवसा विरएसुं बहुमाणपरो सदोसंन्नू।। २७।।

इति भावनासमेतः विरक्तकामः प्रवर्त्तमानः।
कर्मवशात् विरतेषु बहुमानपरो स्वदोषज्ञः ।। २७।।

इस भावना से युक्त, स्वदोषज्ञ, और विरक्तकाम।
कर्मवशात् विषयरत भी रखता, विरतजनों के प्रति बहुमान ।। २७।।

२७. उपर्युक्त भावना से युक्त तथा विषय भोगों से पराङ्मुख व्यक्ति यदि कर्म के उदय से विषयों में प्रवृत्ति करता भी है तो भी अपने दोषों (दुर्बलताओं) को जानता हुवा संयमियों (सर्वविरत साधु-साध्वियों तथा देशविरत श्रावक-श्राविकाओं) के प्रति बहुमान वाला होता है।

इस गाथा में शास्त्रकार ऐसे व्यक्ति की भावनाओं का उल्लेख करते हैं जो अपनी इच्छाओं से विरत हो चुका है, भोग-विलास व इंद्रियविषयों में जिसकी रूचि समाप्त हो चुकी है फिर भी जो भोगावली कर्म के उदय से विषयों में प्रवृत्ति करता है। वे कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति अपने दोषों का ज्ञान रखता हुवा तथा अपनी असमर्थता पर अफसोस करनेवाला होकर स्वयं अविरत होते हुए भी विरतजनों के प्रति बहुमान की भावना रखनेवाला होता है। उसे न केवल अपनी कमजोरी का अहसास होता है अपितु वह उसके लिये पश्चाताप भी करता है।

Iï bhāvaṇāsameo virattakāmo payaṭṭtamāṇo /
Kammavasā viraesuṁ bahumāṇaparo sadosaminnū // 27 //

Iti bhavanāsametaḥ viraktakāmaḥ pravartamānaḥ /
Karmavaśat viratēṣu bahumānaparo svadoṣajñāḥ // 27 //

An aspirant in such mood and

desire–detached but indulgent |

Due to rise of such karma,

he reveres the renoncees, repentant || 27 ||

27. In such mood and desireless, a person indulgent due to rise of enjoyment inducing (*Śātāvedanīya*) karma, knows his weakness and repents while he adores and praises those that have renounced such worldly pleasures.

Here, the author says that a person with such psyche (that of denouncing himself for his indulgent nature), who has overcome his desire for the worldly pleasures but is still not able to give up such indulgence due to rise of such karma, feels sorry for his weakness and even while he is still in the grip of such sensual enjoyments holds those who are able to give up such pleasures in high esteem and praises them while lamenting his own lot.

चारित्तपक्खवाया, अप्पडिविरओ
बन्धइ सुरेसु ।
संविग्गो विरओ इच्चुव्विय
संविग्गो पूयाण विघाओ।। २८।।

चारित्रपक्षपातात् अप्रतिविरतोऽपि बध्नाति सुरेषु ।
संविघ्नो विरतः इत्येव संविग्नो पूज्यानां विघ्नात् ।। २८।।

संवेग प्रकट होता है तब जब साधक विरत हो पूज्याशातना से।
चारित्र पक्षपात से भी होता है देखो अप्रतिविरत को देवायु बंध।।२८।।

२८. एकमात्र मोक्ष की इच्छावाला व्यक्ति जब पूज्यों की आशातना से विरत होता है तब संवेग लक्षण प्रकट होता है। इसलिये, ऐसा व्यक्ति चारित्र के पक्षपात से अप्रतिविरत होने के बावजूद देवायु का बंध करता है।

इस गाथा में शास्त्रकार ऐसे व्यक्ति की चर्चा करते हैं जो किसी कारण से अनासक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है फिर भी चारित्र ग्रहणकर उसका निरतिचार पालन करता है। ऐसा करने से वह पूज्यों की आशातना से विरत होकर मोक्षप्राप्ति की इच्छावाला बनता है। अतः ऐसा साधक स्वयं में संवेग लक्षण प्रकट करके अप्रतिविरत (आसक्ति से अविरत) होते हुए भी देवायु का बंध करता है अर्थात् देवगति में पुनर्जन्म प्राप्त करता है।

Cārittapakkhavāyā appaḍivirao
bandhai suresu /
Saṁviggo virao iccuvviyaṁ
saṁviggo pūyāṇa vighāo // 28 //

Cāritrapakṣapātāt aprativirato 'pi badhnāti sureṣu /
Saṁvigno viratah ityeva saṁvigno pūjyānāṁ vighnāt // 28 //

Without a trace of dtachment, too
one gets the divine destiny for renunciation |
On giving up hurting the revered
manifests the desire for liberation || 28 ||

28. When an aspirant desires liberation only and refrains from hurting the venerable detached ones, then he manifests the phenomenon called *Saṁvega*. Therefore, by practising monasticism an attached aspirant also bonds the divine destiny yielding karma.

Here, the author says that a person who cannot get totally detached from mundane matters but even then accepts monastic vows and flawlessly observes them also gets a rebirth as a heavenly god. Actual *Saṁvega* or single minded desire for spiritual emancipation, and thereby liberation, manifests itself only when one refrains from causing any hurt to the venerable detached monks – knowingly or unknowingly.

पाणच्चयेवि न कुणइ जत्तो
जिणसासणस्स उड्डाहो ।
गुणिणो बहुमाणपरो
दाराइसु सिढिलपडिबन्धो।। २९।।

प्राणात्ययेऽपि न करोति यतः जिनशासनस्य उड्डाहः।
गुणिषु बहुमानपरो दारादिषु शिथिलप्रतिबन्धः।। २९।।

प्राण त्याग करके भी न करता, जिन-शासन को जो गन्दा।
गुणियों का बहुमान बहुत और, स्वजनस्नेह हो अति मन्दा ।। २९।।

२९. अतः संविग्न (संवेग लक्षण वाला) साधक प्राण त्याग भी करना पड़े तो भी अर्थात् स्वयं के जीवन की बलि देकर भी अपने आचरण से जिन-शासन को मलिन नहीं करता है। वह ज्ञानादि गुणों से भूषित गुणियों का अत्यन्त बहुमान करता है तथा पुत्र, कलत्रादि स्वजनों के प्रति अत्यल्प राग-भाव रखता है।

संवेगवान साधक के गुणों का बखान करते हुए शास्त्रकार जिन-शासन के प्रति उसकी निष्ठा को रंखांकित करते हैं और कहते हैं कि ऐसा साधक अपना जीवन उत्सर्ग करके भी जिन-शासन की शान में ऑच नहीं आने देता है तथा वह ऐसा अनासक्त गुणानुरागी होता है कि स्वजनो के प्रति भी अत्यल्प रागभाव रखता है तथा गुणियों का अहोभाव पूर्वक बहुमान करता है।

Pāṇaccayevi na kuṇai jatto
Jiṇasāsaṇassa uḍḍāho /
Guṇiṇo bahumāṇaparo
dārāisu siḍhilapaḍibandho // 29 //

Prāṇātyaye 'pi na karoti yataḥ
Jinaśāsanasya uḍḍāhaḥ /
Guṇinaḥ bahumānaparo
dārādiṣu śithilapratibandhaḥ // 29 //

With little attchment for the family,
and respecting the meritorious |
Even sacrificing his own life,
he makes the Jina–order glorious || 29 ||

29. The spiritual aspirant, who has an intense desire for liberation, does not tarnish the image of the Jina–order even at the cost of his own life; he displays utmost respect towards the meritorious and has little attachment even for the members of his family such as his wife, son etc.

संसारियअब्भुदये न मुणइ हरिसं असंजमे धणियं।
वट्टंतो परितप्पइ मुणइ उवादेयमह धम्मं।। ३०।।

सांसारिकाभ्युदये न जानाति हर्षं असंयमे धणितम्।
वर्तमानः परितप्यते जानाति उपादेयमथ धर्मम् ।। ३०।।

सांसारिक अभ्युदय का अनुसंधान नहीं, न संसार-व्यापार में माने हर्ष।
पश्चाताप पूर्वक वर्तन ही, आद्यन्त उपादेय धर्म-स्पर्श ।। ३०।।

३०. संविग्न साधक सांसारिक अभ्युदय (लौकिक सुख-समृद्धि में वृद्धि) होने पर हर्षित नहीं होता है, असंयम का त्यागकर यथेष्ट संयम पूर्वक जीवन यापन करता है, संसार-व्यापार में हुए सावद्य कर्म के लिये जो पश्चाताप (खेद या दुःख) पूर्वक वर्तन करता है, ऐसा साधक केवल धर्म को ही उपादेय मानता है ।

संवेगवान साधक के कुछ और गुणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा साधक अपने दैनन्दिन संसार-व्यापार के निमित्त हुए स्वल्प सावद्यकर्म के लिये भी अत्यंत पश्चाताप करता है, सांसारिक अभ्युदय में कोई रुचि नहीं होने से वह उससे हर्षित नहीं होता है, तथा समस्त सांसारिकताओं से विरत हुआ वह साधक केवल धर्म को ही उपादेय मानता है। शेष सभी व्यक्ति व वस्तुएँ उसके लिये *केवल ज्ञेय और हेय हो जाती हैं।*

Sāṁsāriya–abbhudaye na muṇai harisaṁ
asañjame dhaṇiyaṁ /
Vaṭṭanto paritappai
muṇai uvādeyamaha dhammaṁ // 30 //

Sāṁsārikābhyudaye na jānāti harṣaṁ
asaṁyame dhaṇitaṁ /
Vartamānaḥ paritapyante,
upādeyamath dharmaṁ // 30 //

Neither glee for the mundane prosperity,
nor delight in indulgence |
Considering Dharma as the only worthy,
for mundane activity – repentence || 30 ||

30. The spiritual aspirant, who doesn't constantly hankers after the worldly progress and prosperity, who doesn't feel happy in excessive indulgence in sensual pleasures and who lives his restrained life repenting for the minutest violence committed in the pursuit of his daily chores (household work, agriculture, trade, etc), and considers the faith – *Dharma* – as the only worthwhile thing and deplores everything else, is considered to be truly endowed with the quality of *Saṁvega*.

चेइयजइसु बज्जुज्जइ जत्तियमत्तं तदेव सहलंति ।
अन्नमणत्थमणत्थस्स वट्टयं मुणइ णिच्चंपि ।। ३१।।

चैत्ययतिषु उपयुज्यते यावन्मात्रं तदेव सफलमिति।
अन्यदनर्थमनर्थस्य वर्द्धकं मन्यते नित्यमपि ।। ३१।।

देव-गुरु के उपयोगार्थ हो जितना, उतना ही है अर्थ सफल।
अन्य-द्रव्य को नित्य ही माने, अनर्थ-वर्द्धक और निष्फल ।। ३१।।

३१. (जो व्यक्ति) देव और गुरु (को दान में दिये जाने से) के उपयोग में आ सके उतने प्रमाण में द्रव्य अर्थात् धन-धन्यादि संपदा को तो सफल यानि सार्थक मानता है तथा उससे इतर द्रव्य को सदा सर्वदा अनर्थ-वर्द्धक तथा निष्फल मानता है (वही व्यक्ति संविग्न अर्थात् मोक्षाभिलाषी है)।

संवेगवान व्यक्ति के कुछ और गुणों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति अपने द्वारा देव-गुरु को दिये गए दान के द्वारा उनके उपयोगार्थ जितना द्रव्य खर्च होता है उसीको सार्थक मानता है तथा अन्य द्रव्य जो स्वयं के व परिवार की सुख-सुविधा के लिये खर्च किया जाता है उसे निरर्थक ही नहीं अपितु अनर्थकारी भी मानता है। इसके कारण का खुलासा करते हुए वे कहते हैं कि जो धन सांसारिक कार्यो के लिये खर्च किया जाता है वह तो संसार परिभ्रमण को बढ़ाने वाला होने से अनर्थकारी ही है।

Ceiyajaisu vajjujjai jattiyamattaṁ
tadeva sahalaṁti /
Annamaṇatthamaṇatthassa vaṭṭayaṁ
muṇai ṇicaṁpi // 31 //

Caitya–yatiṣu upayujyate yāvanmātraṁ
tadeva saphalamiti /
Anyadanarthamanarthasya varddhakaṁ
manyate nityamapi // 31 //

The wealth that sustains *deva–guru* – the pillars of faith,
that much is useful |
One, who considers the rest as useless and harmful,
is truly faithful || 31 ||

31. A person endowed with the quality of *Saṁvega* considers only that much of his wealth as useful as he gives in charity for the use of *deva* (to be used for the upkeep of temples, etc) and *guru* (as alms, etc) and all else that is used for own luxuries as wasteful and contrary to his spiritual interests.

इइ किरियाए इइ भावसंगओ

णिच्छएण सम्मत्ती ।

भावो णज्जइ पच्छाणुतावओ

तासु किरियासु ।। ३२।।

इति क्रियया इति भावसङ्गतः निश्चयेन सम्यक्त्ववान्।
भावः ज्ञायते पश्चादनुतापात् तासु क्रियासु ।। ३२।।

इन क्रियाओं और इन भावों से निश्चित ही वह होता है सम्यक्त्वी।
उन-उन क्रियाओं में अनुताप से जाना जाता है वह संवेगी ।। ३२।।

३२. पूर्वोक्त क्रियाओं (देव-गुरु की भक्ति, आदि) एवं सर्वविरति चारित्र ग्रहण करने के भावों (परिणामों) से निश्चित रूप से वह सम्यग्दृष्टि है तथा उन क्रियाओं (पापक क्रियाओं) में पश्चाताप करने से (उसमें) संवेग का होना ज्ञात होता है या जाना जाता है।

संवेग लक्षण के निरूपण की इस अंतिम गाथा में शास्त्रकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि केवल उन्हीं व्यक्तियों या साधकों में संवेग रूपी सम्यक्त्वलिंग का होना जाना जाता या माना जा सकता है जो देव-गुरु के प्रति भक्तिभाव से ओत-प्रोत हैं, दुःखमय असार संसार से मुक्त होने के लिये जो सर्वविरति चारित्र ग्रहण करने की भावना से आप्लावित हैं, तथा पापक क्रियाओं के लिये पश्चाताप करते हैं।

(इति द्वितीयलिंगम्)

Ii kiriyāe ii bhāvasaṅgao ṇicchaeṇa sammattī /
Bhāvo ṇajjai pacchāṇutāvāo tāsu kiriyāsu // 32 //

Iti kriyayā iti bhāvasaṅgataḥ niścayena samyaktvavān /
Bhāvaḥ jñāyate paścānutāpāt tāsu kriyāsu // 32 //

Pious activities, repentence for the sinful ones,
and the desire to take the vows |
Show his right spiritual inclination,
and to him everyone bows || 32 ||

32. In him that is constantly engaged in the earlier described activities (of devotion to the Faith Propounding Lords and the learned preceptors who preach, profess, and perpetuate the faith), who repents for those (worldly) acts, and who has an abiding desire to embrace sacred and liberating monasticism is decidedly rightly inclined and in him the sign called *Samivega* manifests.

In this last verse on the second sign –*Samivega*, the author unequivocally says that quality of righteousness and the sign of *Samivega* are seen in only those aspirants that are devoted, tepentent and desirous of taking the vows.

(THE SECOND SIGN CONCLUDED)

तृतीयलिंग : निर्वेद

सम्मद्दिट्ठी जीवो भवगहणदुहाणं सुट्ठु निविण्णो चिंतेइ।
अणाइभवो अणाइजीवो तहा कम्मं ।। ३३।।

सम्यग्दृष्टिः जीवः भवगहनदुःखेभ्यः सुष्ठु निर्विण्णः चिन्तयति।
अनादि-भवः अनादि-जीवः तथा कर्म ।। ३३।।

सम्यग्दृष्टि जीव सोचे उद्विग्न, गहन दुःख है भव अनादि ।
अनादि भव में जीव अनादि, वैसा ही है कर्म अनादि ।। ३३ ।।

३३. उपशम व संवेग सहित सम्यग्दृष्टि जीव संसार (अटवी) के गहन दुःखों से अत्यंत उद्विग्न होता है। वह मन से विचार करता है कि यह संसार 'अनादि' है। (''यहॉ से प्रारम्भ कर उत्पन्न हुवा'' ऐसे प्रारम्भ से रहित है अतः अनादि है), जीव या आत्मा भी संतानवृत्तितया 'अनादि' है; और जीव के (मिथ्यात्वादि कारणों से जो किये जाते हैं ऐसे) कर्म भी 'अनादि' हैं।

तृतीय सम्यक्त्वलिंग 'निर्वेद' पर प्रथम गाथा में ही शास्त्रकार कर्ममल से मलिन संसार की भयावहता का चित्रण करते हुए स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस अनादि संसार में अनादि कर्मसंयोग युक्त जीव भव दुःखों से त्रस्त सम्यग्दृष्टि जीव इससे उद्विग्न होकर इससे छुटकारा पाने के उपायों पर विचार करता है।

DETACHMENT : THE THIRD SIGN

Sammaddiṭṭhī jīvo bhavagahaṇaduhāṇaṁ
suṭṭhu niviṇṇo cintei /
Aṇāibhavo aṇāijīvo,
tahā kammaṁ // 33 //

Samyagdṛṣṭiḥ jīvaḥ bhavagahanaduḥkhebhyaḥ
suṣṭu nirviṇṇaḥ cintayati /
Anādi–bhavaḥ anādi–jīvaḥ
tathā karma // 33 //

Anxious, the faithful soul thinks,
what misery is the beginningless world |
In beginningless transmigration is the hapless soul,
by beginningless karma hurled || 33 ||

33. Having gained the right inclination due to subsidence of the falshood inducing karma and its intense desire for spiritual salvation, the soul, becomes anxious by the intense misery of the worldly existence and thinks that the soul and its wandering in the worldly transmigrations is beginningless, and so is the karma matter and its association with the soul due to false inclination, lack of restraint, negligence, passions and activities.

बहुसो अणाइसंसारसायरे
नरतिरियदुक्खाइं ।
पत्ताइं कम्मवसवत्तिजन्तुणा
नत्थि संदेहो ।। ३४ ।।

बहुशः अनादिसंसारसागरे नरकतिर्यग्दुःखानि।
प्राप्तानि कर्मवशवर्त्तिजन्तुना नास्ति सन्देहः ।। ३४ ।।

बहुत बार अनादि संसार-सागर में, नरक-तिर्यंच गतियों में पड़ता ।
निस्सन्देह कर्मवशात्, जीव दुःखों में सड़ता ।। ३४ ।।

३४. कर्मों के वशीभूत हुए इस जीव नें अनेकबार अनादि संसार-सागर में नरक और तिर्यग्गति से संबंधित दुःख प्राप्त किये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार भव, जीव व कर्म के अनादि होने के फलितार्थ की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि भव (संसार), जीव और कर्म इन तीनों के अनादि होने से अनन्त बार अनादि संसारसागर में अनादि कर्म-संयोगों के वशवर्ती अनादि जीवों नें निस्संदेह नरक और तिर्यंच गतियों के दुःखों को पाया है। किंचित् सुखकारी होने के कारण मनुष्य और देवगतियों को छोड़कर जीव नें नरक और तिर्यंच गतियों के दुःखों को भी अनेक बार भोगा है।

Bahuso aṇāisaṁisārasāyare, naratiriyadukkhāiṁ /
Pattāiṁ kammavasavattijantuṇā natthi sandeho // 34 //

Bahuśaḥ anādisaṁsārasāgare, narakatiryagduḥkhāni /
Prāptāni karmavaśavarttijantunā, nāsti sandehaḥ // 34 //

In many a hellish and subhuman birth,
the beginningless soul has wandered |
Undoubtedly, due to beginningless karma,
the pleasure it has squandered || 34 ||

34. Under the influence of karma, many times this soul has undoubtedly taken birth after birth and suffered the miseries in hellish and subhuman species.

Hinting at the consequences of the beginninglessness of the three – the worldly transmigration, the soul and the karmic association, due to beginningless karmic association as well as karma–matter accumulated by own actions, the author says that the beginningless soul has, certainly, many times suffered in the hellish and subhuman births in the beginningless world. Here, he draws a clear distinction between the heavenly and human births in which there is some pleasure and the pain and misery are not as intense.

एवमणंतो जीवो, मिच्छत्ताईनिबंधणमणंतं कम्मं।
तत्तो संसारदुहसयाइं च पुणारुत्तं एवत्ति ।। ३५।।

एवमनन्तः जीवः मिथ्यात्वादि निबन्धनमनन्तं कर्म।
ततः संसारदुःखशतानि च पुनरुक्तमेव इति।। ३५।।

ऐसा मानकर अविनाशी जीव, मिथ्यात्वादि से बांधता है कर्म अनन्त।
उनसे ही होते हैं उसको, बारम्बार सांसारिक दुःख अनेक ।। ३५ ।।

३५. आत्मा अविनाशी है परन्तु मिथ्यात्वादि के कारण वह अनन्त कर्मों का बन्ध करता है। इसलिये संसार में बारम्बार सैंकड़ों दुःखों को प्राप्त करता है।

भावार्थ : भव-जीव-कर्म के अनादित्व की भाँति ही उनके अनन्तत्त्व का निरूपण करते हुवे शास्त्रकार कहते हैं कि जीव अनन्त है, अविनाशी है, प्रध्वंसभावशून्य होने के कारण नित्य है। मिथ्यात्वादि कारणजन्य कर्म भी अनन्त हैं। (अनन्त पुद्गल परावर्त की अपेक्षा से) अनन्त (नित्य) जीव का कर्म के साथ संबन्ध भी अनन्त है। ऐसे कर्म से जीव को संसार में सैकड़ों प्रकार के दुःख बारम्बार होते रहते हैं। यहाँ शास्त्रकार संसार के दुःखमय होने का सुस्पष्ट उल्लेख कर अपने पाठकों को संसारविमुख कर उन्हें अनासक्ति - निर्वेद की ओर मोड़ना चाहते हैं।

Evamaṇanto jīvo
micchattāīnibandhaṇamaṇantaṁ kammaṁ /
Tatto saṁsāraduhasayāiṁ ca
puṇāruttaṁ evatti // 35 //

Evamanantaḥ jīvaḥ
mithyātvādinibandhanamanantaṁ karma /
Tataḥ saṁsāraduḥkhaśatāni ca
punaruktameva iti // 35 //

Similarly, the soul is eternal,
its karmic association is boundless |
Whence the soul suffers,
worldly miseries that are endless || 35 ||

35. The soul is indestructible, but it bonds infinite amount of karma–matter due to its flaws like false views, etc and, therefore, suffers hundreds of worldly miseries again and again.

Just like the beginninglessness of the triad of worldly transmigration, the soul and the karma, the author also states their endlessness and says that the soul is endless, indestructible and eternal. From the standpoint of infinite material bonding, even the karmic association of the soul is infinite. Due to this karmic association alone the soul suffers worldly miseries repeatedly.

अच्छिनिमीलियमित्तं नत्थि
सुहं दुक्खमेव संतत्तं ।
नरए नेरईयाणं
अहोनिसं पच्चमाणाणं ।। ३६ ।।

अक्षिनिमीलितमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेव संतप्तं।
नरके नारकीकानामहर्निशं पच्यमानानाम् ।। ३६ ।।

सुख नहीं पलक झपकने तक का, दुःख ही दुःख से सतत संतप्त ।
नरक-लोक में नारक-जीव, अहर्निश रहते पाचन-परितप्त।। ३६ ।।

३६. प्रतिक्षण (धधकती हुई अग्नियों में) पकते हुए नारक जीवों को नरकगति में पलक झपकने मात्र का भी सुख नहीं है, अपितु निरन्तर असह्य दुःख ही दुःख है।

भावार्थ : सांसारिक दुःखों के वर्णन के क्रम में अब शास्त्रकार नरक में स्थित नारक जीवों के दुःखों का वर्णन करते हुवे कहते हैं कि विभिन्न नरकों में रात-दिन कुम्भीपाक अग्नि में पकाए जाते हुवे नारक-जीवों को पलक झपकने जितने समय के लिये या निमिषमात्र के लिये अत्यल्प भी सुख नहीं होता है। सुख की तो बात ही क्या, वे क्षणमात्र के विराम के बिना सतत, निरंतर ऐसी भयानक, दुःसह और दारुण नारकीय पीड़ा को भोगते हैं जिसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते है।

Acchinimīliyamittaṁ natthi suhaṁ,
dukkhameva santattaṁ /
Narae neraīyāṇaṁ,
ahonisaṁ paccamāṇāṇaṁ // 36 //

Akṣinimīlitamātraṁ nāsti sukhaṁ,
duḥkhameva santaptaṁ /
Narake nairayikāṇāṁ,
aharniśaṁ pacyamānānāṁ // 36 //

No respite for a moment,
tormented by constant misery and pain |
The hellish beings are cooked in hells,
day and night again and again || 36 ||

35. In this verse, the author draws a dreadful picture of the pain and misery that the hellish beings constantly suufer. He says that there, they suffer constantly – without any break. They are cooked, burnt, and baked in the most dreadful *'Kumbhipāka'* fire day and night and what to talk of pleasure, they do not get even a moment's respite from this intense and unbearable pain even for a moment.

सागरमेगं ति य सत्त दस
सत्तरस तह य बावीसा।
तित्तीसं जाव ठिइ
सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा।। ३७ ।।

सागरमेकं त्रीणि सप्त दश
सप्तदश तथा च द्वाविंशति।
त्रयस्त्रिंशतं यावत् स्थितिः
सप्तसु पृथिवीषु उत्कृष्टा।। ३७।।

सातवीं नरक में उत्कृष्ट स्थिति, सागरोपम तैतीस। अन्य छः में है वहः एक, तीन, सात, दस, सत्रह और बावीस।।३७।।

३७. सात नरक-भूमियों में नारक-जीवों की उत्कृष्ट (अधिकतम) आयु-स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बावीस तथा तैतीस सागरोपम[1] पर्यन्त काल की होती है अर्थात् असंख्यात् काल की होती है।

भावार्थ : पूर्व गाथा में असह्य नरकवेदना का वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार यह भी बताना चाहते हैं कि नारक जीवों को ये वेदनाएँ *कितने लम्बे समय तक भोगनी पड़ती हैं।*

---

[1] *१ पल्योपम = असंख्यात् वर्ष, तथा दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम = १ सागरोपम*

Sāgaramettaṁ ti ya satta, dasa,

sattarasa taha ya bāvīsā |

Tittisaṁ jāva .thii,

sattasu puḍhavīsu ukkosā || 37 ||

Sāgaramekaṁ trīṇi sapta daśa,

saptadaśa tathā ca dvāviṁśati |

Trayastriṁśataṁ yāvat sthitiḥ,

saptasu pṛthivīṣu utkṛṣṭā || 37 ||

For one, three, seven, ten and seventeen *Sāgaropama,*

the life abounds |

Twenty–two and thirty–three is, respectively,

maximum life–span on the seven hellish grounds || 37 ||

37. After describibg the dreadful misery and pain suffered by the hellish beings, the author also mentions the unimaginably long period of time for which such sufferings last. The maximum lifespans of the hellish beings in the seven hellish grounds are, respectively, up to one, three, seven, ten, seventeen, twenty–two and thirty–three *Sāgaropama* (an uncalculably long period of time).

नरयाए उव्वट्टो तिरिओ

नरए पुणो वि तिरिएसुं।

उमणंकणाइजणियं

भयतण्हछुहाइजणियं च।। ३८।।

दुक्खं नरयसमाणं तत्थ य

मणुओ तु हयविहिनियोगा।

हीणकुलजाइ जीवो

पेसाण वि पिसणनिउत्तो।। ३९।।

नरकात् उद्वृत्तः (खलु) तिर्यग्

नरके पुनरपि तिर्यक्षुः।

दमनाङ्कनादिजनितं च

भय-तृष्णा-क्षुधादिजनितं।। ३८।।

दुःखं नरकसमानं तत्र च

मनुष्यस्तु हतविधिनियोगात् ।

हीनकुल-जातिः जीवः

प्रेष्याणामपि प्रेषणनियुक्तः ।। ३९।।

Narayāe uvvaṭṭo tirio

narae puṇo vi tiriesuṁ /

Damaṇankaṇāijaṇiyaṁ

bhayataṇhachuhāijaṇiyaṁ ca // 38 //

Dukkhaṁ narayasamāṇaṁ tattha ya

maṇuo tu hayavihiniyogā /

Hīṇakulajāi jīvo

pesāṇa vi pisaṇaniutto // 39 //

Narakāt udvṛttaḥ (khalu) tiryag–

narake punarapi tiryakṣu /

Damanamaṅkanādijanitaṁ

bhayatṛṣṇākṣudhādijanitaṁ ca //38//

Duḥkhaṁ narakasamānaṁ tatra ca,

manuṣyatu hatavidhiniyogāt /

Hīnakulajātiḥ jīvaḥ,

preṣyāṇāmapi preṣananiyuktaḥ // 39 //

नरक से निकल कर जीव होता तिर्यंच,
वहाँ से नारक फिर तिर्यंच।
दमन, अंकन आदि के दुःख, और,
भूख-प्यास-भय के अत्यंत।। ३८।।

नरकसम दुःख भोगता वहाँ भी,
मनुष्यगति में भी उदय होते दुष्कर्म।
जीव जन्मकर हीन कुल जाति में,
करता निन्दित-हीन कर्म ।। ३९।।

३८-३९. नरक से अनन्त दुःख भोगकर कर्मक्षय से वहाँ से निकलने पर जीव तिर्यंच गति में जन्म लेता है, वहाँ से पुनः नारक के रूप में तथा फिर तिर्यंच गति में जन्म लेकर वहाँ भी दमन-उत्पीड़न, अंकन आदि तथा भूख-प्यास-भय आदि के अनेक नरकसम दुःखों को भोगता है। यहाँ तक कि मनुष्य गति में जन्म लेने पर भी जीव अशुभ कर्मोदयवशात् हीन कुल-जाति में जन्म लेकर हीनातिहीन कर्म करने के लिये नियुक्त होता है तथा फिर नवीन कर्म-बन्ध करता है।

भावार्थ : संसार दुःखमय है इस तथ्य को रेखांकित करने के लिये शास्त्रकार सांसारिक पुनर्जन्म प्रक्रिया में होने वाले दुःखों का वर्णन करते हैं। इन गाथाओं में जीव द्वारा नरक में भोगे जाने वाले दुःखों के अतिरिक्त मनुष्य योनि में जन्म लेनेपर भी अनेक दुःख है इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

Out of hell he gets animal birth,

to hell again and there again |

Oppression, branding, fear, thirst,

and hunger again and again ||

Hellish sufferings there, too,

as a human if evil karma writs |

Born in low caste and family to suffer

indignity of lowly deeds || 39 ||

38–39. After suffering boundless pain and misery in the hell, on shedding karmic bondage the soul comes out and takes birth in animal species. From there it goes to hell and is born as animal again. There, too, it suffers pain and misery of oppression, branding, fear, thirst, hunger etc, which are as bad as hellish sufferings. As a human being, too, if his evil karma comes to rise, he is born in lowly caste and family and suffers indignity in that birth as well as bonds further inauspicious karma to suffer in later births.

In order to underline the fact that the whole world is full of pain and misery, in these two verses the author mentions the pains, sorrows, and misery that a person may have to suffer even in human rebirths, what to talk of hellish and subhuman (animals, birds, fishes, insects, bacteria, etc) rebirths.

वाहिसयविहुरियंगो

दारिद्दमहागहेण परिभूओ।

पियविप्पओगविहुरियचित्तो

दुहसागरमईइ ।। ४०।।

व्याधिशताविधुरिताङ्गः

दारिद्र्यमहाग्रहेण परिभूतः।

प्रियविप्रयोगविधुरितचित्तः

दुःखसागरं गच्छति (निमज्जति)।। ४०।।

अनेक व्याधियों से पीड़ित गात्र, दारिद्र्य-महाग्रह से पराजित प्राण। प्रिय-वियोग से खिन्न चित्त, दुःख-सागर की ओर प्रयाण।। ४०।।

४०. अशुभ-कर्मोदय से मनुष्य-भव में जीव को अन्य भी अनेक दुःख होते हैं, यथा - उसका शरीर अनेक व्याधियों से पीड़ित होता है, वह गरीबी की मार से त्रस्त एवं पराजित होता है, अपने प्रियजनों के वियोग से वह उदास, विह्वल व खिन्न होता है तथा इन सब दुःखों से घबराकर वह शोक-सागर में डूब जाता है (तथा उसे इस शोकाकुल मानसिक दशा में ही दुःख भरे संसार से विरक्ति होने लगती है)। यही निर्वेद का प्रारम्भ है।

Vāhisayavihuriyaṅgo, dāriddamahāgaheṇa paribhūo /
Piyavippaogavihuriyacitto, duhasāgaramaīI // 40 //

Vyādhiśatavidhuritāṅgaḥ,
dāridryamahāgraheṇa paribhūtaḥ /
Priyaviprayogavidhuritacittaḥ,
duḥkhasāgaraṁ gacchati (nimajjati) // 40 //

The body tormented by many a disease,
defeated by the curse of need |
Depressed by dear one's departure,
he leaves for the ocean of grief, indeed || 40||

40. In the human birth, too, due to the rise of the inauspicious karma–matter associated with the soul, it suffers many more sorrows, pains and miseries. It becomes bodily riddled with many diseases, it is stricken and defeated by poverty, it is overpowered by grief due to separation from its near and dear ones (due to death or other inevitable reasons) and in this depressed state of mind it is drowned in the ocean of grief. (It is in this depressed state that it feels a sense of detachment from this world and the sign of *nirveda* manifests itself).

अप्पियसमागमुब्भवदुह-मुग्गरदलिय-माणसो जीवो।
पावइ जं दुहं तं जिणाउ को वागरेउ अन्नो?।। ४१।।

अप्रियसमागमोद्भवदुःखमुद्गरदलितमानसः जीवः।
प्राप्नोति यद् दुःखं तत् जिनात् कः व्याकुर्यादन्यः?।। ४१।।

अप्रियसमागम से उत्पन्न,
दुःख-मुद्गर से दलित-मन जीव।
प्राप्त करे जो दुःख उसका, जिनेश्वर बिन
कौन करे वर्णन सजीव? ।।४१।।

४१. अप्रिय के समागम से उत्पन्न दुःख रूपी मुद्गर की चोट से (हृदयशिला के स्फोट - टुकड़े-टुकड़े होने से) दलितमन (भग्न चित्त) वाला जीव जिस व्यथा या पीड़ा का अनुभव करता है, उसको जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त कौन कहने (बताने या वर्णन करने) में समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

दुःख के अनेक कारणों में से एक है अप्रिय समागम। कपूत, कुनार, शत्रु व दुष्टों के अप्रिय संबन्धों से उत्पन्न दुःखों की चोट से चकनाचूर व पराजित मानसिक स्थिति में जीव जिस दारुण दुःख का अनुभव करता है, वह इतना विकट होता है कि उसका वास्तविक वर्णन भी सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये करना असंभव होता है।

Appiyasamāgamubbhavaduhamuggara–

daliyamāṇaso jīvo |

Pāvai jaṁ duhaṁ taṁ jiṇāu

ko vāgareu anno? // 41 //

Apriyasamāgamodbhavaduḥkhamudgara–

dalitamānasaḥ jīvaḥ |

Prāpnoti yad duḥkhaṁ tat jināt,

ko vyākuryadanyaḥ // 41 //

The sorrow of the soul crushed by

the dreadful mace of unpleasant association |

Who but the omnicient Lord Jina

give its true description? || 41 ||

41. Who but omniscient Lord Jina can describe the pain and sorrow that a person with his heart broken and soul crushed by the hammer (or a mace or a club) of unpleasant associations with an unfaithful spouse or a wanton wife, a disobedient son or a wayward child, wicked enemies, and cruel people suffers? It is so intense that its true and realistic description is possible only for none else but the omniscient Lord Jina.

चिंतासंतावेहि य दारिद्दरुयाहि दुप्पउत्ताहि।
लद्धूणवि माणुस्सं मरंति केइ सुनिव्विण्णा।। ४२।।

चिंता-संतापयोश्च दारिद्र्यरुजाभिर्दुष्प्रयुक्ताभिः।
लब्ध्वापि मानुष्यं म्रियन्ते केचित् सुनिर्विण्णाः ।। ४२ ।।

दुष्कृतजन्य चिंता-संताप-दारिद्र्य, और रोग से आकुल।
कई अकृतपुण्य मनुज भी, मरते दुःखार्त-विरक्त-व्याकुल।। ४२।।

४२. दुष्कर्म के उदय से कुछ अकृतपुण्य जीव मनुष्य-जन्म पाकर भी इस दुःखमय संसार में कुटुम्ब पालनादि की चिंता से, राज्य-दण्ड अथवा चोरी हो जाने आदि के भय या संताप से, धन-धान्यादि के अभाव से, दुष्प्रयुक्त होने से (असम्मानजनक कार्य करने के लिये नियुक्त होने की बाध्यता से) व हारी-बीमारी से त्रस्त होकर दुःखातिरेक से प्रवर्तित विरक्ति और अवसाद की दशा में मर जाते हैं।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार व्यक्ति के लिये चिंता और संताप के कारणों का खुलासा करते हुए कहते हैं कि कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि की सम्यक् व्यवस्था का नहीं होना एक महान चिंता का कारण होता है; राजा, चोर, ग्रह आदि के द्वारा सताए जाने का भय संताप का प्रमुख कारण होता है; निर्धनता, रोग आदि असहनीय दुःख के कारण होते हैं; परवशता से दुष्प्रयुक्त होना आदि ऐसे दुःख हैं जिनसे गहन संताप प्राप्त होता है तथा इनसे व्यक्ति निर्वेद को प्राप्त होता है।

Cintāsantāvehi ya, dāriddaruyāhi duppauttāhi /
Laddhūṇavi māṇussaṁ, maranti kei sunivviṇṇā // 42 //

Cintāsantāpayośca, dāridryarujābhiduṣprayuktābhiḥ /
Labdhvā'pi mānuṣyaṁ, mriyante kecit sunirviṇṇāḥ // 42 //

By worry, misery, want and disease,
some are tormented |
With grief induced detachment,
many a sinner dies dejected || 42 ||

42. Because of the rise of inauspicious karma, even after gaining the human birth, many human–beings, sorely lacking in merit die in a state of despondent detachment induced by the worries of lack of means to support their families, misery of the fear of theft and punishment by those in authority, poverty and helplessness of being misemployed and the incidence and infestation of chronic and incurable diseases.

Here, the author has drawn the readers' attention towards the helplessness of even those that gain the human birth but lack merit and means to lead a life of plenty and prosperity but incur the pestilence of worry, disease, poverty, penury and privation.

देवोवि पुढवीकाए उववज्जिउकामु तं विचिंतेइ।
जं जिणवराउ अन्नो वागरिउं जे समत्थो को।। ४३।।

देवोऽपि पृथिविकाये उत्पत्तुकामः तत् विचिन्तयति।
यत् जिनवरात् अन्यः व्याकर्तुं समर्थः कः (खलु)।। ४३।।

देवगण भी पृथ्विकायादि जन्म-संभावना,
सोच जानकर होते चिंतित।
उस चिंता का वर्णन भी,
जिनेश्वर बिन कौन करे समुचित ।। ४३ ।।

४३. देव भी (अपने अवधिज्ञान से) पृथ्विकाय में उत्पन्न होने के बारे में जानकर जो चिन्ता (आर्तध्यान) करता है, उसे कहने में भी जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

स्वर्गस्थ देवगण अपने सभी स्वर्गिक सुखों के मध्य भी इस चिंता में निमग्न रहते हैं कि कहीं स्वर्ग से च्यवित होने के पश्चात् उन्हें पृथिविकायादि तिर्यंच गति में जन्म न लेना पड़े और यदि वे अपने अवधिज्ञान के माध्यम से यह जान लेते हैं कि स्वर्ग से च्यवित होनेपर उन्हें पृथ्विकायिक जीव के रूप में ही जन्म लेना है तो वे अत्यन्त आर्त होकर जो चिन्ता करते हैं उस चिंता का यथार्थ वर्णन भी केवल जिनेश्वरदेवों द्वारा ही संभव है, अन्य किसी के द्वारा नहीं।

Devovi puḍhavikāe, uvavajjiukāmu tami vicintei /
Jami Jiṇavarāu anno, vāgariumi je samattho ko // 43 //

Devo'pi pṛthivikāye,
utpattukāmah tat vicintayati /
Yat Jinavarāt anyaḥ,
vyakartumi samarthaḥ kaḥ (khalu) // 43 //

The knowledge of subhuman birth,
worries even the heavenly gods |
Who can describe that torment,
except the omniscient Lords || 35 ||

43. Even the gods in heavens constantly worry about the possibility of their getting reborn in subhuman species such as the earth bodies, etc. and think about it even while enjoying the heavenly pleasures. If, any heavenly god comes to know by virtue of his clairvoyant perception (*Avadhijñāna*) that after exhausting the heavenly lifespan he is going to be reborn as an earth–bodied creature, he becomes worried and despondent. This worry and despondence, too, is so intense that its realistic description is possible only by the omniscient Lords and by none else.

तं सुरविमाणविहवं चिंतिय चवणं च देवलोगाओ।
अइबलियं चिय जन्न वि फुट्टइ सयसक्करं हिययं।। ४४।।

तं सुरविमानविभवं चिन्तयित्वा च्यवनं च देवलोकात्।
अतिबलिकमेव यत् नापि स्फुटति शतशर्करं हृदयम्।। ४४।।

उस देव-विमान के वैभव का चिंतन कर देव,
देवलोक से च्यवन की करते चिन्ता वहीं।
हृदय कितना निष्ठुर फिर भी,
शत खण्डों में टूट गिरता नहीं।। ४४।।

४४. उस देव को अपने देवविमान सम्बन्धी वैभव और स्थितिक्षय से सुरलोक से च्युत होने के विचार से वेदना (भयंकर दुःख की अनुभूति) होती है तथापि उसका हृदय शतखण्डों (सैंकड़ों टुकड़ों) में विभाजित होकर नष्ट नहीं होता है क्योंकि वह अतिबलिक (वज्रमय) है।

भावार्थ : अनिष्ट संयोग के पश्चात् शास्त्रकार इष्टवियोग के दुःख की ओर इंगित करते हैं और कहते हैं कि देव अपने भोगे गए एवं भोग्य स्वर्गिक सुखों का स्मरण करता हैं तथा तत्क्षण ही उसे अपने आसन्न च्यवन व तिर्यंच गति में पुनर्जन्म की संभावनाओं का स्मरण हो आता है अथवा ज्ञान हो जाता है। फिर भी उसका हृदय कितना अतिबलशाली व वज्रसम कठोर है कि वह शत कपालिकाओं या टुकड़ों में विभक्त नहीं हो जाता है, टूटकर गिर नहीं जाता है।

Taṁ suravimāṇavihavaṁ cintiya,

cavaṇaṁ ca devalogāo /

Aibaliyaṁ ciya janna vi phuṭṭai,

sayasakkaraṁ hiyayaṁ // 44 //

Taṁ suravimānavibhavaṁ cintayitvā,

cyavanaṁ ca devalokāt /

Atibalikameva yat nāpi sphuṭati,

śataśarkaraṁ hṛdayaṁ // 44 //

Gloating over the heavenly pleasures,

god's reflection upon the rebirth starts |

Very strong is their heart that

breaks not in hundred parts || 44 ||

44. After describibg the misery of undesirable association, the author now touches upon that of dissociation from the desirable. He wonders that how very strong the heart of a heavenly god must be that it doesn't break into hundred pieces when he recalls his past and present heavenly pleasures and at the same time thinks of his imminent departure from the heavens with an impending rebirth into subhuman species?

ता देवमणुयनारयतिरिक्खजोणिसु जाइं दुक्खाइं।
भावीभवभावुगाइं हियए वियरंति ताण सया।। ४५।।

तस्मात् देवमनुजनारकतिर्यग्योनिषु
यानि दुःखानि।
भाविभवभावुकानि हृदये
विचरन्ति तानि सदा।। ४५ ।।

अतः ये दुःख, जो होंगे भावी देव-मनुज-
नारक-तिर्यक् योनियों में मौजूद।
वर्तमान की भाँति ही विचारता,
उसके चित्त मे रहता सदा उनका वजूद।। ४५।।

४५. उस कारण से सम्यग्दृष्टि जीव आगामी भवों में (भविष्यत् काल की जन्म परम्परा) में उत्पन्न होने वाले देव-मनुष्य-तिर्यंच और नारक योनियों में उत्पन्न जो दुःख हो सकते हैं, वे उसके हृदय में सदा विचरण करते हैं अर्थात् वह उन्हें सदा इस प्रकार से हृदय में रखता है (उनका स्मरण करता है) जैसे कि वह उन दुःखो का अनुभव वर्तमान में कर रहा हो। यहाँ शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि उन भविष्य में सम्भाव्य दुःखों के सतत स्मरण से व्यक्ति के मन में संसार के प्रति वितृष्णा के भाव उदित होते हैं तथा वह निर्वेद का साक्षात्कार करता है।

Tā devamaṇuyatirikkhajoṇisu, jāiṁ dukkhāiṁ /
Bhāvibhavabhāvugāiṁ hiyae, viyaranti tāṇa sayā // 45 //

Tat devamanujanārakatiryagyoniṣu, yāni duḥkhāni /
Bhāvibhavabhāvukāni hṛdaye, vicaranti tāni sadā // 45 //

Then the miseries of future heavenly,
hellish, animal and human rebirths |
He thinks about constantly as if,
presently suffering in his heart || 45 ||

45. Therefore, the rightly inclined soul constantly feels the pain and misery that will be there in future rebirths in hevenly, human, subhuman and hellish species as if he is suffering them in the present.

After dwelling on the miseries of past and present, suffered due to undesirable association and dissociation from the desirable, the author now emphasises the importance of thinking about all the pain and misery that may be suffered in future rebirths in hevenly, human, subhuman and hellish rebirths. It seems that he considers such feeling and such reflection important from the point of view of getting disillusioned from the mundane exisrence and developing a feeling of detachment from the worldly.

त्तो च्चिय संलत्तं अप्पडिविरओ सुदिट्ठीजं दुक्खं।
वेयइ तं न अन्नो संसारी माणसं भयइ ।। ४६।।

अतएव संलपितं अप्रतिविरतः
सुदृष्टिः यत् दुःखं ।
वेदयते तत् नान्यः
संसारी मानसं भजते ।। ४६।।

अविरत सम्यग्दृष्टि अपने मन में, जिस दुःख का करता वेदन ।
आगम कहते वैसा अनुभव अन्य नहीं करता चेतन।। ४६।।

४६. इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जिस दुःख का वेदन (अनुभव) करता है, वेसा अनुभव कोई भी अन्य सांसारिक प्राणी नहीं कर सकता है। ऐसा आगम कहते हैं।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार पिछली गाथाओं में प्रतिपादित तथ्य को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव जिसे अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग आदि सांसारिक दुःखें का अनुभव हो चुका है तथा जो भविष्य में भी चतुर्गतियों में होने वाले दुःखों का चिंतन करता है उसका दुःख असीम है क्यों कि वह जानता है कि अविरत होने के कारण वह उन सभी कर्मों का बंध कर रहा है तथा अंततोगत्वा वे उसे भोगने ही होंगे। वैसे दुःख का अनुभव अन्य कोई भी सांसारिक प्राणी करने में असमर्थ होता है।

Itto cciya saṁlattaṁ appaḍivirao,

sudiṭṭhījaṁ dukkhaṁ /

Veyai taṁ na anno,

saṁsārī māṇasaṁ bhayai // 46 //

Ata eva saṁlapitaṁ aprativirataḥ sudṛṣṭiḥ yat duḥkhaṁ /

Vedayate tat nānyaḥ, saṁsārī mānasaṁ bhajate // 46 //

The miseries felt by unrestrained but rightly inclined it is said |
Other worldly beings cannot feel, in the canon it is laid || 46 ||

46. The canon says that the worrisome misery that a rightly inclined but unrestrained person feels in his heart is unique to himself in that no other person can feel such misery.

In this verse, the author only affirms the proposition made by him in the last couple of verses that a person who has suffered unpleasant associations and the pain of dissociation from the desirable, and who reflects on the possible pain and misery of future rebirths suffers much because being unrestraineed he bonds inauspicious karmic encumbrance and being rightly inclined knows that he will have to answer for all his sins. Therefore, such a soul is always filled with the reflections of the miseries of various births in four classes and his misery is so intense that none else can feel as he does.

बालोहधूलिगिहिरमणसंनिभं तस्स सव्वमाभाइ।
देविंद-चक्कवट्टणाइ-पयमद्धुयमवस्सं ।। ४७।।

बालोघधूलिगृहरमणसंनिभं तस्य सर्वमाभाति।
देवेन्द्र-चक्रवर्त्तित्वादिपदमध्रुवमवश्यं ।। ४७।।

बालकों के धूलिगृह के खेल सदृश,
उसके मन में सतत सकल होता आभास ।
देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादि अनित्य पदों का,
निश्चय ही होता प्रतिभास ।। ४७।।

४७. सम्यग्दृष्टि जीव के मानस में देवेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि पदों की अनित्यता का ज्ञान भी बालकों कें धूलिगृह (रेत के घरौंदे) के खेल की भाँति ही निरन्तर प्रतिभासित होता रहता है।

भावार्थ : इस गाथा में संसार की अनित्यता का प्रतिपादन किया गया है। संसार में सब-कुछ अनित्य है जो कभी न कभी नष्ट होना ही है। अनत्यता की पराकाष्ठा के रूप में यहाँ सांसारिक पदों में सर्वोच्च देवेन्द्र, चक्रवर्ती, आदि (बलदेव, वासुदेव) का उदाहरण दिया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जब ऐसे सर्वोच्च पद भी अनित्य हैं तो अन्य कमतर प्राणियों की तो बिसात ही क्या? सम्यग्दृष्टि जीव संसार के इस अनित्यताबोध से सतत भावित रहता है तथा इससे निर्वेद को प्राप्त करता है।

Bālohadhūligihiramaṇasannibhaṁ,

tassa savvamābhāi /

Devindacakkavaṭṭaṇāi–

payamaddhuyamavassaṁ // 47 //

Bāloghadhūligrharamaṇa sannibhaṁ

tasya sarvamābhati /

Devendra–cakravatitvādi–

padamadhruvamavaśyaṁ // 47//

Transience of the kings of heaven and earth,

constantly appear in his mind |

Like the paly in the children's sand pit,

if his mind is rightly inclined || 47 ||

47. The rightly inclined person can see and appreciate the transitory nature of as powerful and glorious offices as the king emperors of heaven and earth and, thereby, knows that all worldly things are like houses of sand. Therefore, he develops a sense of aloofness from the mundane and gains the quality of *Nirveda* or detachment.

इय सव्वत्थ असरणं, अणंतदुहभायणंमि संसारे।
अप्पणं मन्नन्तो, निच्चुव्विग्गो महादुक्खं ।। ४८।।

इति सर्वत्र अशरणमनन्तदुःखभाजने संसारे।
आत्मानं मन्यमानः नित्योद्विग्नः महादुःखम् ।। ४८।।

अतः सभी सर्वत्र अशरण,
और अनन्त दुःख-कारण जग में ।
जो इनको अपना माने सो रहता,
नित्य-उद्विग्न महादुःखी मन में।। ४८।।

४८. इस कारण से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति इन सभी - सांसारिक वस्तुओं तथा पदों में निहित धन-संपदा और शक्ति-संपन्नता - को अशरणभूत (जो किसी की मृत्यु से रक्षा नहीं कर सकते हैं) व अनन्त दुःखों का कारणभूत मानता हुआ सदा-सर्वदा उद्विग्न और महादुःखी रहता है।

अथवा : अतः सम्यग्दृष्टि आत्मा अनंत दुःखों के स्थान रूप इस संसार में अपने आप को शरण रहित मानता हुआ नित्य उद्विग्न रहता है एवं महान दुःख का अनुभव करता है।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार संसार व सांसारिक वैभवादि के प्रति अशरण भावना का प्रतिपादन करते हैं तथा सम्यग्दृष्टि आत्मा के द्वारा उनमें आसक्ति त्याग कर निर्वेद का अनुभव करने की बात करते हैं।

Iya savvattha asaraṇaṁ,

aṇantaduhabhāyaṇaṁmi saṁsāre /

Appāṇaṁ mannanto,

niccuvviggo mahādukkhaṁ // 48 //

Iti sarvatra aśaraṇamanantaduḥkhabhājane saṁsāre /
Ātmānaṁ manyamānaḥ nityodvignaḥ mahāduḥkhaṁ // 48 //

The worldly wealth cannot shelter,

but gives infinite misery untold |

To the rightly inclined soul,

these reasons easily unfold || 48 ||

48. Therefore, the rightly inclined soul considers the right miserable world as unsheltering and always remains distressed and despondent and experiences great misery.

Bringing out the pathetically unsheltering nature of the world and worldly power and pelf, the author unequivocally states that the worldly offices such as the kings of heavens or earth are unable to shelter or save anyone from the clutches of death. The rightly inclined soul realises this and remains ever miserable and grief–stricken.

ते जत्थ जत्थ सावज्जकज्जमब्भुज्जमं समुव्वहइ।
सो तत्थ तत्थ तम्मइ विरइ महन्तो अपावन्तो।। ४६।।

तस्मात् यत्र यत्र सावद्यकार्ये अभ्युद्यमं समुद्वहति।
स तत्र तत्र ताम्यति विरति महन्तोऽऽप्नुवन् ।। ४६।।

अतः जहाँ-जहाँ अविरत जीव,
हिंसक कार्यों में करता है प्रवृत्ति।
वहाँ वहाँ वह खेदित होता है और,
अप्राप्त ही रहती है उसे विरति।। ४६।।

४६. इस कारण से जीव इच्छा होते हुवे भी विरति को न प्राप्त करता हुआ जहाँ-जहाँ सावद्यकार्य (हिंसादि पापक व्यापार) में प्रवृत्ति करता है वहाँ-वहाँ खेद को प्राप्त होता है, महादुःखी होता है।

भावार्थ : सर्वविरति की महिमा का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से शास्त्रकार यहाँ हिंसक या सावद्य कर्मों में प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं तथा कहते हैं कि अविरति के कारण जीव जहाँ-जहाँ भी सावद्य अर्थात् हिंसक कर्मों मे प्रवृत्ति करता है वहाँ वहाँ उसे खेद के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। उन पापक व्यापारों से वह *अंततः महान दुःख ही पाता है। (अतः प्रत्येक आत्मार्थी के लिये यह* आवश्यक है कि वह इस तथ्य को आत्मसात करे और सावद्यकर्म से विरत हो।

To jattha–jattha sāvajjakajja–

mabbhujjamaṁi samuvvahai /

So tattha tattha tammai,

virai mahanto apāvanto // 49 //

Tasmāt yatra–yatra sāvadyakārye,

abhyudyamaṁi samudvahati /

Sa tatra–tatra tāmyati,

virati mahanto ``prāpnuvan // 49 //

So, wherever the soul indulges,

in activities that are violent |

Everywhere he begets grief and,

is eluded by total restraint || 49 ||

49. Laying emphasis on the ill effects of violent activities the author says that wherever the unrestrained person indulges in violent and sinful activities, he gets nothing but grief and complete detachment keeps eluding him. (It is, therefore, incumbent upon the rightly inclined souls to restrain themselves and shun violence and vehemence.)

मन्नइ जयम्मि धन्ने सुसाहुणो चत्तभवदुहासंगे।
अन्नमणाहमसरणं जयं सुदिट्ठी विचिन्तेइ।। ५०।।

मन्यते जगति धन्यान्, सुसाधून् त्यक्तभवदुःखासङ्गान्।
अन्यमनाथमशरणं जगत्, सुदृष्टिः विचिन्तयति ।। ५०।।

धन्य मानता सम्यग्दृष्टि, भव-दुःख-संबन्धहीन सुसाधुओं को तथा।
अनाथ-अशरण अन्य जगजीव का, चिंतन करता वह सदा।। ५०।।

५०. सुदृष्टि (सम्यग्दृष्टि) जीव संसार में सांसारिक क्लेष संबन्धों को छोड़ चुके अतः खेद से रहित सुसाधुओं को धन्य मानता है। साधुओं से भिन्न जगत् के जीवों को - राजा आदि नाथों से युक्त होने पर भी उनके द्वारा भव-दुःख से त्राण देने में अक्षम होने से - अनाथ व अशरणभूत मानता है।

भावार्थ : पिछली गाथा में प्रतिपादित सर्वविरति के महत्त्व को और अधिक रेखांकित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव तो केवल उन्हीं सुसाधुओं को धन्य मानता है जो भवासक्ति को त्यागकर सांसारिक व्यापार से विरत हो चुके हैं तथा सर्वथा आत्मार्थ की गवेषणा में रत हैं। संसार के ऐसे अन्य जीवों को तो वह अनाथ व अशरणभूत मानता है जो भवासक्ति के कारण अनेक प्रकार के दुःख और क्लेश को प्राप्त होते हैं। ऐसा विचार करता हुआ वह निर्वेद को प्राप्त करता है।

Mannai jayammi dhanne
susāhuṇo cattabhavaduhāsaṅge /
Annamaṇāhamasaraṇaṁ jayaṁ,
sudiṭṭhī vicintei // 50 //

Manyate jagati dhanyān,
susādhūn tyaktabhavaduḥkhāsaṅgān /
Anyamanāthamaśaraṇaṁ jagat,
sudṛṣṭiḥ vicintayati // 50 //

The righteous soul sees the glory of the monks
detached from mundane suffering |
And thinks the rest of the world is
orphaned and unsheltering || 50 ||

50. The soul with the right vision or right inclination realises the glory of the good monks who are detached from the worldly attachment and attendant miseries of the mundane existence and thinks that other than the good ascetics the other living beings of the world are orphaned (in spite of the parents, kings etc) because they cannot save them from the worldly sorrows and that the world is unsheltring for them.

सो सव्वविरइ आरा हरिसट्ठाणं अपावमाणो उ न लहइ।
सव्वत्थ धिइं धणपरिणयसयणगेहेसु ।। ५१।।

स सर्वविरतेः आरात् हर्षस्थानमप्राप्नुवन् ख्लु एव न।
लभते सर्वत्र धृतिं, धनपरिजनस्वजनगेहेषु।। ५१।।

वह सम्यग्दृष्टि जीव होता नहीं हर्षित,

जबतक ग्रहण न करता प्रव्रज्या-सर्वविरत ।

धन-परिजन-स्वजन-गृह आदि में भी,

रहता नहीं होकर अतिरत।। ५१।।

५१. (उपर्युक्त विचार करने वाला चिंतनशील सम्यग्दृष्टि प्राप्त) सर्वविरति के समीप पहुँचा हुआ (जिसकी भावना पूरीतरह सर्वविरति प्रव्रज्या ग्रहण करने की हो चुकी है किंतु जो अभी तक प्रव्रजित नहीं हुआ है) धन (हिरण्य-स्वर्ण, धन-धान्य, क्षैत्र-वास्तु रूपी धन-संपत्ति) परिजन (दास-दासी, आदि परिकर), स्वजन (माता-पिता, भाईबहिन, पुत्र-पत्नी, सगे-संबन्धी, आदि स्वजन) के बीच में रहता हुआ (रमण करता हुआ) भी वह (व्यक्ति) हर्षस्थान (मोक्ष/आनंद की अनुभूति) को प्राप्त नहीं करता है अतः ये सब उसे (मोक्षप्राप्ति में बाधक के रूप में) सुखकर प्रतीत नहीं होते हैं।

अथवा : सम्यग्दृष्टि आत्मा भी प्रव्रज्या ग्रहण किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है अतः यह धन-परिजन-स्वजन-गृहादि उसे सुखकर प्रतीत नहीं होते हैं।

So savvavirai ārā,

harisaṭṭhāṇaṁ apāvamāṇo u na lahai /

Savvattha dhiiṁ,

dhaṇapariyaṇasayaṇagehesu // 51 //

Sa sarvaviratеḥ ārāt,

harṣasthānamaprāpnuvan khalu evạ na /

Labhate sarvatra dhṛtiṁ,

dhanaparijanasvajanagehẹsu // 51 //

That rightly inclined soul feels unhappy

unless he is completely renounced |

His unconcern about wealth, followers and family

and the house is quite pronounced || 51 ||

51. That thoughtful and rightly inclined person, who is nearing the all renonced monastic ordination but has not yet taken the vows, does not feel happy untill he has gained the all renouncing monastic order and considering his worldly connections and possessions such as wealth (in the form of gold and silver, and other material possessions as well as agricultural produce, farms and buildings, etc) family and friends and home and hearth, etc, and does not rejoice in them.

इइ भावणासमेओ सम्मदिट्ठी जिणेहिं अक्खाओ।
तव्विहचिट्ठा अवसियमणपरिणामो महासत्तो।। ५२।।

इति भावनासमेतः सम्यग्दृष्टिः जिनैः आख्यातः।
तद्विधचेष्टा अवसितमनःपरिणामः महासत्वः।। ५२।।

जो जीव ऐसे भाव रखता,
वह है सम्यग्दृष्टि - कहते जिन।
वैसी चेष्टाओं से भासित होता,
उस महासत्व का निर्विग्न मन।। ५२।।

५२. इस प्रकार की (उपर्युक्त) भावना से युक्त, उस प्रकार की (निर्वेदाभिव्यंजिका) चेष्टा वाला तथा अवसितमन परिणाम (अनुमित निर्वेद सूचक चिंता-अध्यवसाय) वाला महासत्त्वशाली (जो विपत्ति में भी व्याकुल नहीं होता है) सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जिनेश्वरदेव ने कहा है।

भावार्थ : पूर्ववर्णित संसार के दुःखमयत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व आदि मनःपरिणाम युक्त जीव को जिनेश्वरदेव के द्वारा सम्यग्दृष्टि कहा गया है। उस प्रकार की निर्वेद अभिव्यंजक चेष्टा - सांसारिक वस्तुओं में अनसक्ति का भाव व सावद्यकर्म को नहीं कराने वाली बाह्य क्रियाओं के रूप में सम्यक्त्व के तृतीय लिंग रूप से अवसित मनःपरिणाम अर्थात् 'निर्वेद' है तथा ऐसा व्यक्ति महासत्व है जो विपत्ति में भी अनाकुल रहता है।

(इति तृतीयलिंगम्)

Ii bhāvaṇāsameo sammadiṭṭhī jiṇehiṁ akkhāo /
Tavvihaciṭṭhā avasiyamaṇapariṇāmo mahāsatto // 52 //

Itibhāvaṇāsametaḥ
samyagdṛṣṭiḥ jinaiḥ ākhyātaḥ /
Tadvidhaceṣṭā avasitamanaḥ–
pariṇāmaḥ mahāsatvaḥ // 52 //

The soul with such thoughts is rightly inclined,
sayeth the *Jina*–Lord |
Such actions indicate the detached mind
of that great soul|| 52 ||

52. Summing up the deliberation on the third sign – *Nirveda*, the Lord *Jina* has said that the soul with such thoughts (that thinks that the world is transient, unsheltering and filled with sorrow) is endowed with the right vision. Such thoughts are externally expressed in the form of detachment from the mundane and non–violent attitude and indicate righteousness. Such thoughts are termed as '*Nirveda* or Detachment', and the soul with such disposition is, decidedly, a great soul that does not get perturbed by external troubles, hardships and afflictions.

(THE THIRD SIGN CONCLUDED)

चतुर्थलिंग : अनुकम्पा

सम्मदिट्ठी जीवो अणुकम्पपरो सयावि जीवाणं।
भाविदुःखविप्पओगं ताण गणंतो विचिंतेइ ।। ५३।।

सम्यग्दृष्टिः जीवोऽनुकम्पापरो सदाऽपि जीवानाम्।
भावीदुःखविप्रयोगं तेषां गणयन् विचिंतयति ।। ५३।।

सम्यग्दृष्टि जीव होता, अनुकम्पापरक सदा ही जीवों पर ।
कैसे हो उनके भाविदुःख दूर, यही सोचता वह निरन्तर।। ५३।।

५३. जीव पर अपुकम्पापरायण (करुणाभाव युक्त) सम्यग्दृष्टि आत्मा सदैव ही जीवों के भावी (आने वाले समय में) दुःख दूर कराने की इच्छा करता हुआ उनके विषय में ही सोचता रहता है।

भावार्थ : उपशम, संवेग व निर्वेद लक्षणों से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही जीवों पर अनुकम्पा करने वाला, करुणामय चित्त वाला होता है। दानादि द्वारा अभाव मिटाने से वह बाह्य (द्रव्य) अनुकम्पापरक तथा मिथ्यादृष्टि क्रूर व्यक्तियों को सम्यक् बोधि देने से वह अन्तःकरण से भी (भाव) अनुकम्पापरक होता है। वह समस्त जीवों का भाविदुःख से विरह-वियोग हो, उनके सब दुःख दूर हों ऐसी भावना वाला होता है तथा उसका चिंतन भी सदैव इसी बारे में चलता है कि लोक के सब दुःखों से संतप्त प्राणियों के दुःख-संताप कैसे दूर किये जाएँ।

THE FOURTH SIGN : COMPASSION

Sammadiṭṭhī jīvo aṇukampaparo sayāvi jīvāṇaṁ /
Bhāviduḥkhavippaogaṁ tāṇa gaṇanto vicintei // 53 //

Samyagdṛṣṭiḥ jīvo'nukampāparaḥ sadā'pi jīvānāṁ /
Bhāvīduḥkhaviprayogaṁ teṣāṁ gaṇayan vicintayati // 53 //

Towards others the righteous soul is,
always compassionate and kind |
How can their misery be mitigated,
is uppermost in his mind || 53 ||

53. The rightly inclined soul that is always kind and compassionate towards other worldly living beings and he is always engaged in contemplating the ways and means by which their futurre troubles and miseries can be mitigated.

The rightly inclined soul, endowed with the qualities of subsidence of falsehood and passions, desire for liberation and detachment from the mundane is always compassionate towards the others. By giving material charity, to fulfill their needs, he shows external compassion and by giving the right advice to the cruel and unkind he shows internal compassion. He always contemplates as to how can the future miseries of the worldly creatures be mitigated.

नियसहावेण हया तावदभव्वा ण मोइउं सक्का।
भवदुक्खाओ इमे पुण भव्वा परिमोयणीया उ ।। ५४।।

निजकस्वभावेन हताः तावदभव्याः न मोचयितुं शक्याः।
भवदुःखात् इमे पुनर्भव्याः परिमोचनीयास्तु ।। ५४।।

वे कर नहीं सकते मुक्त अभव्य जीवों को,
जो हैं निजस्वभाव से दूषित।
किंतु भवदुःखों से संभव है मुक्ति,
उन भव्यों की जो होते नहीं प्रदूषित।। ५४।।

20. मुक्तिगमन-अयोग्यता रूपी अपने (दूषित) निजस्वभाव से हत (मारे गए) अभव्य जीवों को तो भवदुःखों से मुक्त करना संभव नहीं है, किंतु मुक्तिगमन-योग्यता वाले उन भव्य जीवों को मुक्त करना संभव है, जो मोचनीय (मुक्ति दिलाने योग्य) हैं। अतः उन्हें सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार अभव्यों व भव्यों में अंतर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभव्य जीव स्वभावतः अमुक्तिगामी होते हैं अतः उन्हें दुःखमुक्त नहीं किया जा सकता है किंतु भव्य जीवों को त्राण देने का प्रयत्न करना आवश्यक हैं। (व्यवहार में अभव्यों व भव्यों की पहचान करना असंभव होने से) सम्यग्दृष्टि जीव को अपने अनुकम्पायुक्त स्वभाव के कारण सबका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

Niyayasahāveṇa hayā tāvada–

bhavvā ṇa moiuṁ sakkā /

Bhavadukkhāo ime puṇa

bhavvā parimoyaṇīyā // 54 //

Nijakasvabhāvena hatāḥ,

tāvadabhavyāḥ na mocayituṁ śakyāḥ /

Bhavaduḥkhāt ime punar–

bhavyāḥ parimocanīyāstu // 54 //

Sullied by their own nature

unliberatables are the '*Abhavya*' souls |

Liberatable are the unsullied ones,

called the '*Bhavya*' souls || 54 ||

54. It is not possible to liberate (free) the (permanently sullied) '*Abhavya*' or the unliberatable souls that have been hurt (sullied) by their ineligibility for liberation. However, it is possible to liberate the '*Bhavya*' souls that possess the eligibiliy for liberation. Therefore, all efforts must be made to liberate them from the miseries of the world. (In practice, however, it is not possible to distinguish one type from the other and the rightly inclined souls tries to mitigagte the misery of one and all.)

संसारदुःखमोक्खणहेउं जिणधम्मं

अन्तरा नान्नो।

मिच्छत्तुदयसंगयजणाणं स य

परिणमिज्जइ कहं तु।। ५५।।

संसारदुःखमोक्षणहेतुः जिनधर्ममन्तरेण नान्यः।
मिथ्यात्वोदयसंगतजनानां स च परिणमेत् कथं नु।। ५५।।

जिन-धर्म ही है संसार के दुःखों से मुक्ति का उपाय,

नहीं कोई अन्य।

मिथ्यात्वोदय से आसक्त जन कैसे हों परिणत,

अधर्म को समझें जो धर्म-धन्य।। ५५।।

५४. संसार के दुःखों से मुक्त होने के लिये जिनधर्म (जिनेश्वरोक्त धर्म) के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग (उपाय) नहीं है और मिथ्यात्त्व के उदय से ग्रस्त लोग उसे कैसे नमन करें? अर्थात् ऐसी मिथ्यात्त्वग्रस्त आत्माओं को जिनधर्म श्रद्धायोग्य कैसे बन सकता है?

भावार्थ : तीर्थंकर जिनेश्वर प्रणीत मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी मुक्ति के साधन से युक्त होने से संसार निस्तारण में समर्थ है किंतु मिथ्यात्व के उदय से आसक्त लोगों की उस धर्म में परिणति कैसे हो सकती है, वे तो अधर्म को ही धर्म मानते हैं।

Saṁsāradukkhamokkhaṇaheuṁ

jiṇadhammaṁ antarā nānno /

Micchattudayasaṅgajaṇāṇaṁ sa ya,

pariṇamijjai kahaṁ tu // 55 //

Saṁsāraduḥkhamokṣaṇahetu Jinadharma–

mantareṇa nānyaḥ /

Mithyātvodayasaṅgatajanānāṁ sa ca

pariṇamet kathaṁ nu // 55 //

The right faith of the Jina is the only way,

to liberate and none else |

How can they bow to it,

whose very vision is false || 55 ||

55. The only way to liberate from the worldly miseries is to follow the (three fold) path (comprising right vision, right knowledge and right conduct) propounded by the Lord Jina and there is no other way. However, how can those believers in other faiths bow to the Jina faith, whose vision is clouded by falsehood and who consider other false faiths as the right ones. Meaning that it cannot be done, because under the influence of false knowledge and distorted view they consider the wrong as right.

नायज्जियवित्तेणं कारेमि जिणाालयं महारम्मं।
तद्दंसणाउ गुणरागिणो जंतुणो वीयलाभुत्ति।। ५६।।

न्यायार्जितवित्तेन कारयामि जिनालयं महारम्यम्।
तद्दर्शनात् गुणरागिणः जन्तोः बीजलाभरिति।। ५६।।

न्यायार्जित धन से बनवाऊंगा जिनालय अति रम्य।
जिसके दर्शन से गुणरागी जीव सम्यक्त्वबीज से होंगे धन्य।। ५६।।

५६. (संसारमुक्ति का एकमात्र उपाय जिनधर्म है ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि आत्मा सोचता है कि मैं) अपने न्यायोपार्जित धन से अति सुन्दर (अत्यधिक मनमोहक) जिनालय (जिनमन्दिर) का निर्माण कराऊंगा जिसके दर्शनमात्र से ही गुणानुरागी जनों को सम्यग्दर्शन का बीजलाभ होता है अर्थात् उनके हृदय में सम्यग्दर्शन का अंकुर प्रस्फुटित होता है।

भावार्थ : वह (भाव अनुकम्पापरक सम्यग्दृष्टि जीव) सोचता है कि (यदि जिनोपदिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी ही भवसागर से पार करने वाली है तो उसके लिये ऐसे उपाय किये जाने चाहिये जिनसे लोगों के मन में ये भाव पैदा हों, अतः) मैं (लोगों को सम्यग्दृष्टि बनाने के लिये) अपने न्यायपूर्वक अर्जित धन से अत्यंत मनोहारी जिनालय का निर्माण करवाऊंगा, जिसके दर्शनमात्र से ही गुणानुरागी लोगों में सम्यक्त्व का उदय होता है।

Nāyajjiyavitteṇaṁ kāremi jiṇālyaṁ mahārammaṁ /
Taddaṁsaṇāu guṇarāgiṇo jantuṇo vīyalābhutti // 56 //

Nyāyārjitvittena kārayāmi
jinālayaṁ mahāramyaṁ /
Taddarśanāt guṇarāgiṇaḥ
jantoḥ bījalābhariti // 56 //

I will get grand Jina temple constructed
with my wealth that I lawfully earn |
Beholding which the appreciative souls
will gain the seed of righteous concern || 56 ||

56. (The rightly inclined compassionate soul thinks that as the only way to liberate the worldly souls from mundane miseries is to make them faithful in the Jina propounded right faith comprising right vision, right knowledge, and right conduct, I must endeavour to inculcate the right vision amongst the worldly souls. To that end) I will get a grand Jina temple (with such architectural and sculptural splendour) constructed by my lawfully earned wealth that its very glance will help the liberatable worldly souls to gain the seed of right inclination, and thereby, lead them on the path of spiritual emancipation and ultimate liberation.

कारेमि बिंबममलं दट्ठुं गुणरागिणो जओ बोहिं।
सज्जो लभेज्ज अन्ने पूयाइसयं च दट्ठूणं ।। ५७।।

कारयामि बिम्बममलं दृष्ट्वा गुणरागिणो यतः बोधिम्।
सद्यः लभेरन् अन्ये पूजातिशयं च दृष्ट्वा ।। ५७।।

और बनवाऊंगा निर्मल जिन-बिम्ब,
शीघ्र पाएँ गुणानुरागी जन बोधि जिसका दर्शन कर।
अन्य भी पाएँ बोध
पूजातिशय का अवलोकन कर ।। ५७।।

५७. वह सोचता है, (उपरोक्त जिनालय में) मैं निर्मल (अत्यंत स्वच्छ, शुद्ध, उत्कृष्टतम जिन) बिम्ब (भगवान जिनेश्वर की भव्यातिभव्य प्रतिमा) बनवाऊंगा (स्थापित या प्रतिष्ठित करवाऊंगा) जिसके दर्शन से ही गुणानुरागी जन सम्यक्त्व को प्राप्त करेंगे तथा अन्य जन भी पूजा का अतिशय - भव्यता देखकर सम्यग्दृष्टि प्राप्त करेंगे।

भावार्थ : जिनालय का महत्त्व उसमें प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा के कारण है, जिनप्रतिमा दर्शन से जो विशुद्ध भाव जागृत होते हैं वे ही सम्यग्दर्शन का बीजवपन करने में समर्थ होते हैं, अतः वह अनुकम्पाशील सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सोचता है कि मेरे द्वारा निर्मित जिन मंदिर में मैं एक अति सुंदर जिनप्रतिमा स्थापित कराऊंगा जिसका दर्शन करके भव्यजन सम्यग्दर्शन को प्राप्त करेंगे तथा अंततोगत्वा संसारमुक्त होंगे।

Kāremi bimbamamalaṁ daṭṭhuṁ

guṇarāgiṇo jao bohiṁ /

Sajjo labhejja anne

pūyāisayaṁ ca daṭṭhūṇaṁ // 57 //

Kārayāmi bimbamamalaṁ dṛṣṭvā

guṇarāgiṇo yataḥ bodhiṁ /

Sadyaḥ labheran anye

pūjātiśayaṁ ca dṛṣṭvā // 57 //

And therein I shall install flawless Jina idol

beholding they will get rightly inclined |

On seeing the grandeur of worship,

others, too, will get so inclined || 57 ||

57. As beholding the Jina idol raises the thoughts of a person to the level where he is able to gain right vision, the whole importance of the Jina temple is because of the Jina idol installed therein, therefore, the compassionate person thinks, "I shall get a beautiful and flawless Jina idol installed in the temple constructed by me so that the viewers may gain right vision by beholding it and the others may gain it by watching the grandeur of worship."

पुढवाइयाण जइ वि हु
होइ विणासो जिणालयाहिंतो।
तव्विसयावि सुदिट्ठिस्स
नियमओ अत्थि अणुकम्पा।। ५८।।

पृथिव्यादीनाम् यद्यपि भवत्येव विनाशः जिनालयात् ।
तद्विषयाऽपि सुदृष्टेः ननु[१] नियमतोऽस्ति अनुकम्पा।। ५८।।

पृथ्वीकायादिक जीवों की हिंसा जो जिनालय के निमित्त होती है। समदृष्टि को उनके प्रति भी, नियम से, अनुकम्पा ही होती है।। ५८।।

५८. यद्यपि जिनालय (जिनमन्दिर) के निर्माणकार्य में पृथ्वीकायिकादि (अप्कायिक, वायुकायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक व कई छोटे-बड़े त्रस्कायिक) जीवों का विनाश होता ही है तथापि उनके प्रति सम्यग्दृष्टि आत्मा को निश्चय से अनुकम्पा (दया) का भाव होता है।

भावार्थ : जिनालय निर्माण में पृथ्वीकायिकादि जीवों का विनाश तो अवश्यंभावी है। फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव इस विनाश को सांसारिक जीवों के दीर्घकालिक कल्याण व मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखकर उस हिंसा में प्रवृत्त होता है किंतु उसके हृदय में मंदिर निर्माणकार्य में हताहत होने वाले जीवों के प्रति गहन अनुकम्पा का भाव रहता ही हैं।

---

[१] 'ननु' का प्रयोग छन्दपूर्ति हेतु।

Puḍhavāiyāṇa jai vi hu hoi viṇāso jiṇālayāhinto /
Tavvisayāvi sudiṭṭhissa niyamao atthi aṇukampā // 58 //

Pṛthivyādīnām yadyapi bhavatyeva vināśaḥ jinālayat /
Tadviṣayā`pi sudṛṣṭeḥ nanu niyamato`sti anukampā // 58 //

In the construction of Jina temple,
the earth–bodies are destroyed and more |
For them, too, the rightly inclined soul,
feels deepest compassion for sure || 58 ||

58. There is no doubt that the construction of the Jina temple also, as is any other construction activity for that matter, is fraught with the destruction of the lower form of creatures such as the earth bodied, the water bodied, the air bodied, the fire bodied, the vegetble bodied and also the small and not so small mobile creatures as well. However, the rightly inclined soul considers this loss of life as essential in order to ensure the larger benefit of gaining of right vision and consequent liberation from the mundane miseries by all those who will see the Jina temple and behold the Jina Idol therein. He therefore, goes ahead with the construction, but is moved by a feeling of deep compassion for the creatures so hurt or killed.

एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खंति जेण पुढवाई।
इत्तो निव्वाणगया अबाहिया आभवमिमाणं ।। ५६।।

एतस्मात् बुद्धाः विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन्।
इतश्च[1] निर्वाणगतोऽबाधकाभवमेषां कथं नु[2]? ।। ५६।।

इसके द्वारा संबुद्ध विरत अबाध अभव-पथ पर,
सब जीवों का करते रक्षण।
अतः अनुकम्पा ही है जिनभवन निर्माण,
न कि जीवों का भक्षण।। ५६।।

५६. स्पष्ट रूप से पृथ्वीकायादि की हिंसा से युक्त जिनालय निर्माण की प्रक्रिया को अनुकम्पापरक कैसे कहा गया, इसको स्पष्ट करते हुवे शास्त्रकार कहते हैं कि जिन-भवन (व उसके अंदर विराजित जिनप्रतिमा) के दर्शन से सम्यग्दृष्टि (तत्त्वदर्शी) बनी आत्माएँ सभी जीवों की रक्षा करती हुई अबाध अभव (मोक्ष) की ओर गमन करती हैं जहाँ वे सर्वसावद्यविरत (सभी प्रकार की हिंसक वृत्तियों व कार्यों को नहीं करने वाले) होते हैं अतः निर्माणोपरान्त जिनालय जीव-रक्षण का निमित्त बनता है। इस प्रकार जिनालय निर्माण का सावद्यकर्म भी अनुकम्पा ही है, हिंसा नहीं।

---

[1] 'च' का प्रयोग छन्दपूर्ति हेतु।
[2] 'कथं नु' का प्रयोग छन्दपूर्ति हेतु।

Eyāhinto buddhā virayā rakkhanti jeṇa puḍhavāī /
Itto nivvāṇagayā abāhiyā ābhavamimāṇam' // 59 //

Etasmāt buddhāḥ viratā rakṣanti yena pṛthivyādīn /
Itaśca nirvāṇagato 'bādhakābhavameṣāmkathaṁ nu // 59 //

The righteous by beholding Jina temple,
beholders protect not kill the living and hence |
Tread the path of liberation unhindered,
so, its construction is compassion not violence || 59 ||

59. Clarifying his statement that even the visible violence, towards the creatures of earth bodies etc, during the construction of Jina–temple is nothing but compassion, the author says, "by beholding the Jina temple (and the Jina idol therein) the beholders gain righteous inclination and, thereby, they become protectors of all the living beings for ever. Also, those souls that get liberated from the mundane existence because of the righteousness gained by beholding the Jian image become fully free of any violence what so ever. Therefore, the construction of Jina–temple becomes a means of protection and not of destruction and violence for all the living beings. It is, therefore, justified to call it compassion and not violence".

रोगि सिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुपउत्ता उ।
परिणामसुंदर च्चिय चिच्चा से वाहयोगेवि ।। ६०।।

रोगिणो शिरावेध इव सुवैद्यक्रियेव सुप्रयुक्ता तु।
परिणामुन्दरा चैव चेष्टा विधिना तस्य बाधयोगेऽपि।। ६० ।।

सुप्रयुक्त शिरावेधादि सुवैद्य-क्रिया,
रोगी को ज्यों होती हितकर ।
वैसे ही बाधायुक्त भी जिन-भवन निर्माण,
होता है परिणाम-सुन्दर।। ६०।।

६०. रोगी के उपचार हेतु सुवैद्य द्वारा (उपकार बुद्धि से की गई) शिरावेध (तथा शल्यक्रिया, कटुक औषध प्रयोग, आदि) क्रियाएँ अति कष्टकर होते हुए भी उनके द्वारा रोग शान्त हो जाने से परिणाम में सुन्दर होती हैं। वैसे ही जिनालय निर्माण में पृथ्वीकायिकादि जीवों का बाध् (नाश) तो होता है फिर भी जिनबिम्ब के दर्शन से किसी को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तो कोई विरति को ग्रहण करता है तो कोई साक्षात् मोक्ष को सुख प्राप्त करता है। इसलिये वह भी परिणाम-सुन्दर है।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार जिनालय निर्माण में होने वाले सावद्यकर्म की तुलना योग्य चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त शिरावेधादि प्रत्यक्षतः कष्टकर क्रियाओं से करके यह सिद्ध करते हैं कि मंदिर निर्माण आपाततः बाधक होते हुए भी परिणामतः सुन्दर है।

Rogi sirāveho iva suvijjakiriyā va supauttā u /
Pariṇāmasundara cciya ciccā se vāhayogevi // 60 //

Rogiṇo śirāvedha iva
suvaidyakriyeva suprayukta tuḥ /
Pariṇāmasundarā caiva ceṣṭā
tasya bādhayoge'pi // 60 //

As a well performed surgery is painful,
but is employed for the patients' well–being |
So is the violence in temple construction is,
for ultimate good of the living beings || 60 ||

60. Just as the well performed surgery, by a well–meaning and well–qualified and experienced doctor, like bleeding, tying of veins etc for the patients suffering from bad–blood is apparently painful for the patient but is for his ultimate benefit of curing him of the disease, so is the process of constructing the Jina–temple which is flawed by violence towards the creatures of earth–bodied beings etc, is for the ultimate well being of the living beings by virtue of its being an agency for gaining righteous inclination and ultimate liberation from mundane misery.

अन्नेसिं पवत्तीए

निबन्धणं होइ विहि समारंभो ।

सो सुत्ताओ नक्कइ

तं चिय लहेमि ता पढमं ।। ६१।।

अन्येषां प्रवृत्तेः

निबन्धनं भवति विधिसमारम्भः।

स सूत्रात् ज्ञायते

तदेव[1] लेखयामि तत् प्रथमम्।। ६१ ।।

विधिपूर्वक किया गया समारम्भ बनता,

अन्यों के लिये भी सदाचरण का निमित्त ।

ऐसा है सूत्र-वर्णित्,

प्रथम वही लिखवाता हूँ - सूत्र-संक्षिप्त।। ६१।।

20. विधिपूर्वक - सूत्रवर्णित रीति से सम्यक्तया प्रारम्भ किया हुवा समारम्भ (जिनालय का निर्माण) निर्माता के अतिरिक्त अन्य भव्य जीवों कि लिये भी सदनुष्ठान - सदाचरण का हेतु होता है। वह विधि सूत्र-आगम से जानी जाती है। अतः संक्षिप्ततः वह विधि-विज्ञान-निबन्धन-सूत्र ही पहले लिखवाता हूँ ।

---

[1] छन्द की दृष्टि से 'तद् एव' पृथक करके पठनीय।

Annesiṁ pavattīe nibandhaṇaṁ hoi vihisamārambho /
So suttāo nakkai taṁ ciya lahemi tā paḍhamaṁ // 61 //

Anyeṣāṁ pravṛtteḥ
nibandhanaṁ bhavati vidhisamārambhaḥ /
Sa sūtrāt jñāyate
tadeva lekhayāmi tat prathamaṁ // 61 //

Properly started Jina temple
ensures good conduct of others as well |
So, I first briefly write the texts for the procedure,
only they can tell || 61||

61. Emphasisizing the need for following the right procedure for the construction of the Jina temple, the author says, "The construction of Jina–temple, started in accordance with the procedure laid down in the scriptures, becomes a reason for good deeds not only for the person undertaking the task but also for the others. However, the right procedure can be known from the scriptures only. I, therefore, first of all write about the said scriptures."

जिणवयणामयसुइसंगमेण उवलद्ध वत्थुसब्भावं।
कुस्सुइनियत्तभावा भयंति जिणधम्ममेगे उ ।। ६२।।

जिनवचनामृतश्रुतिसंगमेन उपलभ्य वस्तु सद्भावम्।
कुश्रुतिनिवृत्तभावा भजन्ते जिनधर्ममेकस्तु।। ६२ ।।

जिनवचनामृत रूपी आगम का प्रतिपादन जो करते हैं
कर सम्यक् तत्त्व परीक्षा।
कुमत के प्रति निवृत्तिभाव और
स्वसिद्धान्तों की सुंदर समीक्षा।। ६२ ।।

६२. जिनवचनरूपी अमृत (अजर अमर - सिद्धत्व प्राप्ति का हेतुभूत रसायन) की प्राप्ति श्रुति (आगमज्ञान) के संगम (अर्थात् सद्गुरु, जो ज्ञेय और अज्ञेय का भेद जानते हुवे यथार्थ का उपदेश देते हैं, के मेल) से होती है जिससे वस्तु के सद्भाव का (अर्थात् जीवादि तत्त्वों का यथार्थ) ज्ञान होता है। (ऐसे उपदेश को सुनकर) लोग कुश्रुति (परस्पर विरोधी हिंसादि का उपदेश देने वाले के मिथ्याज्ञान) से निवृत्तभाव होकर एकमात्र जिनधर्म को स्वीकार करते हैं।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार सम्यग्ज्ञान की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं तथा कुतीर्थियों के मिथ्या उपदेशों के प्रति भी सावधानी व उपेक्षा का भाव रखने की आवश्यकता पर बल देते हैं। (स्वसमय ज्ञान के साथ परसमय अज्ञेयता का निरूपण भी आवश्यक है।)

Jiṇavayaṇāmayasuisaṅgameṇa

uvaladdha vatthusabbhāvaṁ /

Kussuiniyattabhāvā bhayanti

jiṇadhammamege u // 62 //

Jinavacanāmṛtaśrutisaṅgamena

upalabhya vastusadbhāvaṁ /

Kuśrutinivṛttabhāvāḥ bhajante

Jinadharmamekastu // 62 //

Those who preach the Jina–words

after examining the fundamental facts |

Keep aloof from the false faiths and

fully analyse own precepts || 62 ||

62. On listening to the scriptures containing the elixir of the precepts preached by Lord Jina, and properly examining the fundamental truths, some learned ones who have realized the futility of other false faiths, present the faith propounded by the Jinas with proper analytical rigour. By listening to which the faithful ignores other false faiths and remains a firm adherent to the right precepts of the Jina faith.

जिणवयणं साहंती साहू जं ते वि साहणसमत्था।
वायरणछंदनाडयकव्वालंकारनिम्माया ।। ६३ ।।

जिनवचनम् साधयन्ति साधवः यत् तेऽपि साधनसमर्थाः।
व्याकरण-छन्द-नाटक-काव्यालंकार-निर्मातारः ।। ६३।।

क्योंकि बहुश्रुत साधनसमर्थ मुनिजन

जिनवचन का करते उपदेश।

वे करते हैं स्व रचनाओं में व्याकारण, छंद,

नाटक, काव्य और अलंकार का सुंदर समावेश।। ६३।।

६३. क्योंकि बहुश्रुत मुनिजन भव्यों को जिनवचन या भगवन्मत का उपदेश देनेवाले होते हैं, वे साधनसमर्थ साधु (जो जिनमत उपदेशन-प्रतिष्ठ तथा परमत निरसन प्रतिस्थापना-प्रतिष्ठ होते हैं अर्थात् वे प्रतिवादी कुतीर्थिकों के मत का निरास करके जिनमत की प्रतिष्ठा करने में समर्थ होते हैं) वे व्याकरण, छंद, नाटक, काव्य, अलंकार आदि के ज्ञाता होते हैं। अतः सभी प्रकार से जिनमत का उपदेश देने में कुशल होते हैं।

भावार्थ : इस गाथा में जिनमत का उपदेश करने वाले मुनियों के लिये भी व्याकरण, छंद, नाटक, काव्य, व अलंकार आदि विधाओं में कुशल होने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

Jiṇavayaṇaṁ sāhantī sāhū jaṁ

te vi sāhaṇasamatthā /

Vāyaraṇa–chanda–nāḍaya–

kavvālaṅkāranimmāyā // 63 //

Jinavacanaṁ sādhayanti sādhavaḥ yat

te'pi sādhanasamarthāḥ /

Vyākaraṇa–chanda–nāṭaka–

kāvyālaṅkāra–nirmātāraḥ // 63 //

Learned and capable monks skilled at

preaching Jina–commandments |

Make good use of their skills in grammar,

verse, drama, poetry and embellishments || 63 ||

63. The learned monks who preach the teachings of the Lord Jina are well–read in own scriptures and highly skilled in other literary forms such as grammar, verse, drama, poetry, poetic embellishments, etc and are capable of refuting the false and misleading arguments of the preachers of false faiths and of establishing the right precepts of the Jaina faith. Therefore, they have been said to be variously resourceful.

छद्दरिसणतक्कविआ कुतित्थिसिद्धंतं जाणया धणियं।
ता ताण कारणे सव्वमेव इह होइ लेहणीयं ।। ६४।।

षड्दर्शन-तर्क-विदः कुतीर्थिकसिद्धान्तज्ञायकाः धणितम्।
तत् तेषां कारणे सर्वमेव इह भवति लेखनीयम्।। ६४।।

षड्दर्शन-तर्क के ज्ञाता अन्यदर्शन-
सिद्धान्त ज्ञान से समृद्ध।
मुनियों के ज्ञान में जो स्व-परमत
उनका भी लेखन है यहाँ उपयुक्त।। ६४।।

६४. षड्दर्शन (सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, व मीमांसा-वेदान्त) का ज्ञाता, तर्कविद् (वाद-विवाद में कुशल ज्ञानी) और (बौद्ध, चार्वाक, द्विजादि के श्रुति-स्मृति-पुराणादि में वर्णित) सिद्धान्तों का अतिशय रूप से जानने वाले बने, उस कारण से उन (जैन साधुओं) के निमित्त यहाँ (इस पुस्तक में) सभी (स्व-परमत) लिखने योग्य हैं। अर्थात् परमत निरसन व स्वमत की स्थापना के लिये दोनों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है अतः इसी को ध्यान में रखते हुए स्वमत के साथ अन्य मतावलम्बियों के मतों का भी निरूपण करना चाहिये।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार जैन मुनियों के लिये स्वमत के साथ परमत का भी सम्यक् ज्ञान अर्जित करने पर बल देते हुए कहते हैं कि ऐसा परमत निरसन व स्वमत स्थापना के लिये आवश्यक है।

Chaddarisaṇatakkaviā kutitthisiddhantaṁ

jāṇayā dhaṇiyaṁ /

Tā tāṇa kāraṇe savvameva

iha hoi lehaṇīyaṁ // 64 //

Ṣaḍdarśanatarkavidaḥ kutīrthīsiddhānta–

jñāyakāḥ dhaṇitaṁ /

Teṣāmapi tat kāraṇe sarvameva

iha bhavati lekhanīyaṁ // 64 //

I must write here about six philosophies,

logic and other precepts |

So that the monks preach without any doubt

and with clear concepts || 64 ||

64. It is proper to write here, for the sake of the Jaina monks, about six religious philosophies (*Sāṅkhya–Yoga, Nayā ya–Vaiśeṣika, and Mīmāmisā–Vedānta*) and the precepts of the others (like Buddhist, *Cārvāk, Dvija,* etc, and *Śruti–smṛti–Purā ṇa,* etc) so that they may become well–versed in them (and be able to refute the arguments of the opponents and establish own view–point in any debate).

पइभाइगुणजुयाण वसही सयणासणाइणा निच्चं।
आहारोसहिभेसज्जवत्थमाईहिं उवठंभं ।। ६५।।

काऊण पुत्थयाइं समप्पियं सासणं कुतित्थीणं।
अधरिसणीयमेयं काहामि तओ य जिणधम्मे।। ६६।।

गुणरागिणो जणा खलु संवुज्जस्संति तेउ सत्ताणं।
अभयं काहित्ता तओ एयं एयं च कारेमि।। ६७।।

प्रतिभादिगुणैर्युतानां वसति-शयनासनादिनां नित्यं।
आहारोषधि-भैषज्यवस्त्रमादीभिः उपष्टम्भम्।। ६५।।

कृत्वा पुस्तकानि समर्प्य शासनं कुतीर्थिनाम्।
अधर्षणीयमेतद् करिष्यामि ततश्च जिनधर्मे।। ६६।।

गुणरागिणः जनाः खलु संभोत्स्यन्ते ते तु सत्वानाम्।
अभयं करिष्यन्ति ततः एतदेतच्च कारयामि।। ६७ ।।

प्रतिभादि गुणों से युक्त मुनियों का, वसति, शयनासनादि और आहार।
औषधि, भेषज्य, वस्त्रादि से भी करूँ नित्य उनका शरीरोपकार।।६५।।

शास्त्र-ग्रंथ और पुस्तकें कर उन्हें समर्पित, कर दूँगा यह सिद्ध ।
जिन-शासन है 'अजेय', 'कुतीर्थिक-मर्दक' जगप्रसिद्ध ।। ६६।।

Paibhāiguṇajuyāṇa vasahī sayaṇāsaṇāiṇā niccaṁ /
Āhārosahibhesajjavatthamāīhiṁ uvaṭhambhaṁ // 65 //

Kāūṇa putthayāiṁ samappiyaṁ sāsaṇaṁ kutitthīṇaṁ /
Adharisaṇīyameyaṁ kāhāmi tao ya Jiṇadhamme // 66 //

Guṇarāgiṇo jaṇā khalu saṁvujjassanti teu sattāṇaṁ /
Abhayaṁ kāhittā tao eyaṁ eyaṁ ca kāremi // 67 //

Pratibhādiguṇairyutānāṁ vasatiśayanāsanādināṁ nityaṁ /
Āhāroṣadhibhaiṣajyavastramādibhiḥ upaṣṭambhaṁ // 65 //

Kṛtvā pustakāni samarpya śāsanaṁ kutīrthināṁ /
Adharṣaṇīyametad kariṣyāmi tataśca Jinadharme // 66 //

Guṇarāgiṇaḥ janāḥ khalu sambhotsyante te tu satvānāṁ /
Abhayaṁ kariṣyanti tataḥ etadetacca kārayāmi // 67 //

By serving the monks – virtuous,
genius and intelligent |
With shelter, bed, seat, food, clothes,
medicine and treatment || 65 ||
By giving books got written by me,
for their studies and to prove |
That Jina–order is invincible,
which falsehood cannot disprove || 66 ||

इसप्रकार संबुद्ध जन मानेंगे, सम्यक् जिन-शासन को और।
करेंगे जीव-रक्षा, अतः देता हूँ उन कार्यों और लेखन पर जोर।। ६७।।

६५-६७. अनुकम्पावान के लिये विधेय क्रियाओं में जिनालय निर्माण, साधुजन शरीररक्षणणार्थ आहारादि दान, पुस्तक प्रदान आदि का कथन करते हुवे शास्त्रकार उसी के शब्दों में कहते हैं, ''प्रतिभादि गुणसंपन्नों (आत्मधर्म युक्त प्रज्ञावान मुनियों) को सदैव शरीरोपग्रह (शरीररक्षण के लिये अत्यावश्यक) वसति (रहने का स्थान), शयन, आसन, आहार, औषधि, भैषज्य, वस्त्रादि एवं पुस्तकें (शास्त्रादि लिखवाकर) समर्पितकर जिनशासन (जिनेश्वर प्रतिपादित सिद्धान्त) को कुतीर्थियों (बौद्धादि) के मत से अधर्षणीय (अजेय) बनाऊंगा और फिर उससे गुणानुरागीजन (हेयोपादेय विवेक संपन्न लोग) निश्चित रूप से जिनधर्म में विश्वास करेंगे (उसे सम्यक् रूप से स्वीकार करेंगे) तथा वे (सर्वविरति ग्रहण करके पृथ्वीकायिकादि जीवों को) अभय करेंगे अर्थात् उनकी रक्षा करेंगे। अतः मैं ये-ये (पूर्वोक्त शयनासनादि प्रदान व पुस्तकादि लिखवाकर देने जैसे) कार्य करवाता हूँ।

भावार्थ : इन गाथाओं में शास्त्रकार श्रावकों द्वारा साधुओं के जीवन-धारणार्थ दानधर्म के निर्वहन एवं उनके अध्ययनार्थ पुस्तकें-शास्त्र आदि लिखवाकर प्रदान करने का महत्व प्रतिपादित करते हैं। (प्राचीन काल में शास्त्र-पुस्तकें छपने का साधन न होने से उन्हें लिहियों द्वारा लिखवाना पड़ता था जो एक श्रमसाध्य व समयसाध्य कार्य था, तथा उनके अभाव में साधुओ का स्वाध्याय सम्यक् रूप से हो पाना असंभव था।)

Thereby the discerning people shall,

believe in the right Jina–faith |

And protect the living, hence these things,

the compassionate sayeth || 67 ||

65–67. About the prescribed deeds for the compassionate householder (lay follower) of the Jina faith, the author says in his (the householder's) own words, "I shall give to the righteous and wise monks the means to sustain themselves such as residence, bedding, seating, etc and well–cooked and treated and acceptable food, medicine, medical attention, etc. I shall also get the necessary books and scriptures copied and give them to the monks for their studies so that they may become so knowledgeable and learned that they may never be defeated in any argument with the preceptors of other faiths and prove to the world that the Jina faith is the right faith that affords the right path for spiritual emancipation and liberation from mundane existence. Thereby, the discernible people shall be attracted to the Jina faith and become believers in its precpts led by non–violence and become the protectors of living beings. It is for this compassionate reason that I do these things."

वावीकूवतडागाइगोयरं देइ
न खलु उवदेसं।
जमसंखविणासेणं न होइ
थेवाणमणुकंपा।। ६८।।

वापीकूपतडागादिगोचरं ददाति
न खलु उपदेशं ।
यतसंख्यविनाशेन न भवति
स्तोकानामनुकम्पा।। ६८।।

वापी, कूप, तालादि खनन का सम्यग्दृष्टि,
नहीं देते कभी उपदेश।
असंख्य विनाश से अल्प रक्षा में,
नहीं अनुकम्पा का लवलेश।। ६८ ।।

६८. निश्चित रूप से (सम्यग्दृष्टि) जैन मुनि मनुष्य-पशु-पक्षी आदि के पीने के पानी के लिये कुंवे, बावड़ी, तालाब आदि खुदवाने का उपदेश कभी नहीं देते हैं क्योंकि इनमें असंख्य एकेन्द्रियादि जीवों का विनाश होकर अल्प ही मनुष्य-तिर्यंच जीवों की रक्षा होती है, तथा इस प्रकार कुछेक जीवों की रक्षार्थ अनेक जीवों की हत्या करने में कोई अनुकम्पा नहीं है।

Vāvīkūvataḍāgāigoyaraṁ dei
na khalu uvadesaṁ /
Jamasaṅkhaviṇāseṇaṁ na hoi
thevāṇamaṇukampā // 68 //

Vāpīkūpataḍāgādigocaraṁ dadāti
na khalu upadeśaṁ /
Yatasaṅkhyavināśena na bhavati
stokānāmanukampā // 68 //

Digging of wells and ponds,
the righteous monks do not preach |
'No compassion' in saving a few
by killing many, they beseech || 68 ||

68. The Jaina monks do not preach the digging of wells and ponds for making the drinking water available for the thirsty human and subhuman beings (like animals, and birds) as it involves destruction of innumerable one–sensed creatures of the earthbodies etc, and at times even those of the higher order, and serves the needs of only a few humans, animals and birds. It is argued that there is no compassion in destroying so many creatures for the benefit of so few.

सव्वाणुकंपगस्स उ गुणहेऊ ता अपत्तंमि।
दाणमसुद्धं गुणहेऊ वेइ अणुकंपसंजुत्तो।। ६६।।

सर्वानुकम्पकाय तु गुणहेतुः तस्याद् कथमपात्रे।
दानमशुद्धं गुणहेतुः ब्रवीत्यनुकम्पासंयुक्तः।। ६६।।

सर्वविरत अनुकम्पक सुपात्र को
दिया दान तो है ही पुण्यकर।
परिग्रहारम्भरत अब्रह्मचारी अपात्र को
दिया दान गुणहेतु हो क्योंकर?।। ६६।।

६६. सर्वविरत (सब के प्रति अनुकम्पायुक्त) साधु के प्रति दिया गया दान गुणहेतु है - पुण्यानुबन्धी पुण्य का उत्पादक है। किंतु अनुकम्पावशात् भी परिग्रह और आरम्भरत अपात्र को दिया अशुद्ध दान गुणहेतु (पुण्यकारक) कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ : इस गाथा में शास्त्रकार अनुकम्पा को पुंण्य के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करते हुवे कहते हैं कि सुपात्र को दिया गया दान तो पुण्यकारक है ही किंतु कुपात्र को उस पर दया करके दिया गया दान भी पुण्यकारक नहीं हो सकता है। सुपात्र और कुपात्र का स्पष्टीकरण देते हुए वे कहते हैं कि सर्वजीवों पर अनुकंपापरायण सर्वविरत साधु सुपात्र है तथा आरम्भ-परिग्रह युक्त हिंसक कार्यों में रत याचक अपात्र है।

Savvāṇukampagassa u guṇaheū

tā apattammi /

Dāṇamasuddhaṁ guṇaheū

vei aṇukampasañjutto // 69 //

Sarvānukampakāya tuḥ guṇhetuḥ

tat kathaṁ apātre /

Dānamaśuddhaṁ guṇahetuḥ

bravītyanukampāsaṁyuktaḥ // 69 //

Charity to the deserving all renounced

compassionate monks is meritorious |

But, how can the charity to the undeserving

and violent be called meritorious? || 69 ||

69. The charity given to the deserving all renounced righteous and compassionate monks certainly earns merit. But, how can the charity given to the undeserving (sinful, possessive and unrighteous) mendicants be called meritorious? Meaning that it earns no merit for the giver.

In this verse, the author clarifies that it is only the charity to the desrving that earns merit for the giver.

इत्तो च्चिय सो हलसयडपोयसंगामगोहणाईसु।
उवएसंपि हु कहं देइ सत्तअणुकम्पासंयुत्तो।। ७०।।

अस्मादेव स हलशकटपोतसंग्रामगोधनादिषु।
उपदेशमपि नु कथं ददाति सत्वानुकम्पासंयुक्तः।। ७०।।

अतएव वह सत्वानुकम्पासंयुक्त
मुनि कैसे दे सकता है उपदेश।
हलचालन, पोत-वाहन, युद्ध संचालन,
व गोधनादि का संदेश?।। ७०।।

७०. इसलिये सर्वसत्वानुकम्पी (प्राणिमात्र पर दया करने वाले) सम्यग्दृष्टि जैन मुनि (श्रावको की आजीविका के लिये भी) हल चलाने, छकड़ा या वाहन बनाने-चलाने, जहाज बनाने-चलाने, युद्ध करने तथा पशु पालन का उपदेश कैसे दे सकते हैं? अर्थात् नहीं दे सकते हैं और उन्हें ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिये। इसीलिये कहा है -

"खित्ते खडेह गोणे दमेह एमाइ सावगजणस्स ।
उवसिउं नो कप्पइ जाणिय जिणवयणसारस्स ।।"

अर्थात् जिनवचन का सार यह है कि इसपर सम्यक् श्रद्धा रखने वाले साधक के लिये श्रावक लोगों को खेत खोदने, गायों को बांधने आदि का उपदेश भी देना कल्प्य नहीं है।

Itto cciya so halasayaḍa–

poyasaṅgāmagohaṇāīsu /

Uvaesaṁpi hu kahaṁ dei

satta–aṇukampāsaṁjutto // 70 //

Asmādeva sa halaśakaṭa–

potasaṅgrāmagodhanādiṣu /

Upadeśamapi nu kathaṁ dadāti

satvānukampāsaṁyuktaḥ // 70 //

So, how can all–renounced monks

driven by campassion towards the living |

Preach to plough, ply carriages and boats,

to fight and to raise cattle for a living? || 70 ||

70. Therefore, how can the rightly inclined and compassionate Jaina monks who have an abiding concern for the safety and protection for all the living beings of the universe, and who are driven by an all pervading compassion, preach for ploughing the land, making and plying of carts and carriages, boats and ships, fighting and waging wars, and raising livestock (that may be slaughtered) as a means of earning one's livelihood? Meaning that they cannot and they mustn't so preach.

चाणक्क पंचतंतय कामंदयमाइरायनीइओ।
वक्खाणंतो जीवाणं न खलु अणुकंपओ होइ।। ७१।।

चाणक्य-पंचतन्त्रं कामन्दक्यादिराजनीतिः।
व्याख्यानयन् जीवानां न खलु अनुकम्पकः भवति।। ७१।।

चाणक्य, पंचतन्त्र, कामन्दक आदि की,

राजनीतियों का व्याख्यान।

भी जीवों के प्रति नहीं होता है,

निश्चय ही अनुकम्पा का आख्यान।। ७१।।

७१. चाणक्य प्रणीत, पंचतन्त्र प्रतिपादित अथवा कामन्दक प्रोक्त व अन्य भी राजनीति शास्त्रों (राजाओं के लिये राज्य-संचालन तथा अर्थादि उपाय प्रदर्शक शास्त्रों) का व्याख्यान करते हुवे (विचक्षण प्रतिभा संपन्न मुनि भी) प्राणियों के प्रति दयालु - अनुकम्पावान जीव रक्षक नहीं होता है।

भावार्थ : राजनीति में छल, परस्पर मित्र अवरोध, वंचना, कूटयुद्धादि प्रयोग से अत्यधिक प्राणियों के हताहत होने से निष्करुणा ही द्योतित होती है, करुणा नहीं। अतः सर्वविरत जैन मुनियों, जो षट्जीवनिकाय के प्रणियों के रक्षक होते हैं, के लिये राजनीतिशास्त्रों की व्याख्या करना निषिद्ध बताया है।

Cāṇakka pañcatantaya kāmandayamāirāyanīio /
Vakkhāṇanto jīvāṇaṁ na khalu aṇukampao hoi // 71 //

Cāṇkya–Pañcatantraṁ
Kāmandakādirājanītiḥ /
Vyākhyānayan jīvānaṁ na khalu
anukampakaḥ bhavati // 71 //

Explaining the statecraft put forth by *Cāṇakya,*
or *Kamandak* or in *Pañcatantra* contained |
Is certainly not a display of compassion
for the living, it is ordained || 71 ||

71. Delivering discourses on and explaining state–craft and political philosophies propounded by *Cāṇakya* or *Kāmandaka* or that contained in *Pañcatantra*, etc is not considered to be an act of compassion towards six categories of living beings because state–craft includes measures like deception, breaking mutual friendships, telling lies, conducting declared and undeclared wars, etc. Thus, involving gross violence, it is essentially an act of violence and not of compassion. Therefore, Jaina ascetics are forbidden from discoursing on politics and related subjects.

तह जोइसत्थकंडाइ विज्जुयं मणुयतुरयहत्थीणं।
तहा हेमजुत्तिमिसुकलमक्खायंतो[1] हणे जीवे ।। ७२।।

तथा ज्योतिषार्थकाण्डादि वैद्यकं मनुज-तुरग-हस्तिनाम्।
तथा[2] हेमयुक्तीषुकलाव्याचक्षाणः हन्याज्जीवान्।। ७२।।

तथा ज्योतिषविद्या, अर्थशास्त्र, और मनुष्य,
अश्व, और हस्ति-वैद्यक का उपदेश?।
ये सब और धातुकला व धनुर्वेद तो
हैं ही जीव-हनन के निश्चित निर्देश।। ७२।।

७२. उपरोक्त (राजनीति) के अतिरिक्त ज्योतिष (तिथि-नक्षत्र आदि बलाबल प्रतिपादक, प्राणियों का अतीन्द्रिय शुभाशुभादि व्यंजक शास्त्र), अर्थकाण्ड (अर्थशास्त्र); मानव, अश्व, हस्ति के वैद्यक (चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शालिहोत्रादि द्वारा प्रणीत रोगचिकित्सा प्रकाशक शास्त्र); तथा वैसे ही हेमयुक्ति (सुवर्ण सिद्धि आदि धातुकर्म संबन्धी शास्त्र) और इशुकला (धनुर्वेद) के व्याख्यान के द्वारा वह कुशल उपदेष्टा निश्चित ही जीवहनन का भागी होता है क्योंकि इन इन विद्याओं का ज्ञान हिंसा, पापकर्म, व सावद्ययोग का निमित्त होता है। इनका उपदेष्टा भी हिंसा में बराबर का भागीदार होता है। अतः अनुकम्पापरक - दयालु सर्वविरत, सम्यग्दृष्टि मुनि इनका उपदेश नहीं देता है।

---

[1] 'हेमजुत्तिमिसुकलामक्खायंतो' होना चाहिये।
[2] छन्द की दृष्टि से 'तथा' के स्थान पर 'च' होना चाहिये।

Taha joisatthakaṇḍāiṁ

vijjuyaṁ aṇuyaturayahatthīṇaṁ /

Tahā hemajuttisukala–

makkhāyanto haṇe jīve // 72 //

Tathā jyotiṣārthakāṇḍādi

vaidyakaṁ manujaturagahastināṁ /

Tathā hemayuktīṣukalā–

vyācakṣāṇaḥ hanyājjīvān // 72 //

And teaching of astrology; human,

equine, and elephant medicine and matellurgy |

Also, discourse on economics and archery,

is violence, and hence, taboo for the clergy || 72 ||

72. Besides the aforementioned, the disciplines of astrology and economics, the science of medicine for the humans as well as animals such as horses and elephants, and similarly, the science of metallurgy and of archery are such that their knowledge results in gross violence towards the living and, therefore, their preacher also becomes responsible for the sinful acts that ensue from their practice. Hence, the rightly inclined and all renounced compassionate monk must not teach such disciplines.

तो अणुकंपपरेणं अविरयसम्मत्तणा उ पडिसेहो।
पडिसिद्धाणं नियमा विहियाणं विहिओ कायव्वा।। ७३।।

तस्मादनुकम्पापरेण अविरतसम्यग्दृष्टिना तु प्रतिषेधः।
प्रतिषिद्धानां नियमात् विहितानां विधिः कर्तव्यः।। ७३।।

तो अविरत सम्यग्दृष्टि भी करें नहीं हिंसक कर्म,
जो हैं जिनशासन में निषिद्ध।
पर विहित कर्मों को अवश्य ही,
करें विधि से छोड़ कर्म प्रतिषिद्ध।। ७३ ।।

७३. उपरोक्त कारणो से अनुकंपासंयुक्त अविरत सम्यग्दृष्टि के द्वारा शास्त्र निषिद्ध कार्यों को निश्चय से नहीं करना चाहिये और शास्त्रसम्मत कार्यों को विधिपूर्वक करना चाहिये।

भावार्थ : (उपरोक्त कार्यों को करने से जीवघात होता है।) अतः अनुकम्पापरायण (दयालु) अविरत सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को भी इन प्रतिषेध (निषेध किये गए) कार्यों को नहीं करना चाहिये तथा प्रतिषिद्ध (जिनशासन में कर्तव्य रूप से निषिद्ध - वापी, कूप, सरोवर निर्माण, एवं चाणक्य, कामन्दक, पंचतंत्र, आदि की राजनीति की व्याख्या करने, और ज्योतिष, वैद्यक, धातुवेद व धनुर्वेद आदि जैसे शास्त्रों के उपदेश जैसे) कार्यों को नहीं करना चाहिये। तथापि विहित (भव्य जीवों के कल्याण के लिये जिनालय निर्माण, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, पुस्तक लिखवाने, आदि जैसे) कार्यों का नियम से विधि पूर्वक पालन (अनुष्ठान करना चाहिये।

To aṇukampapareṇaṁ avirayasammattaṇā u paḍiseho /
Paḍisiddhāṇaṁ niyamā vihiyāṇaṁ vihio kāyavvā // 73 //

Yasmāt anukampāpareṇa
aviratasamyagdṛṣṭinā tu pratiṣedhaḥ /
Pratiṣiddhānāṁ niyamāt
vihitānāṁ vidhiḥ kartavyaḥ // 73 //

Therefore, all these acts aforementioned,
are discompassionate and violent |
The unrenounced but rightly inclined,
must also shun such acts blatant || 73 ||

73. All the aforementioned activities (such as making wells, staired wells, ponds, etc; discoursing on political philosophies of *Cāṇakya* and *Kāmandak* and that contained in works like *Pañcatantra*, etc as well as preaching about subjects like Astrology, Matellurgy Economics and treatment of humans, and animals like horses and elephants, etc) are violent and discompassionate. Therefore, the rightly inclined and compassionate unrenounced person must also shun these canon–proscribed activities and promote the canon–prescribed activities (such as construction of Jina temples, installing Jina image, etc so that falsehood may wane and right vision may prevail.

दाणं न होइ विहलं पत्तमपत्ते य संनिउज्जंतं।
इय वि भणिए दोसा पसंसओ किं पुण अपत्तो।। ७४।।

दानं न भवति विफलं पात्रापात्रे च संनियुज्यमानम्।
इत्यपि भणिते दोषा प्रशंसतः किं पुनोपात्रम्।। ७४।।

दोषपूर्ण है यह कहना कि पात्रापात्र को
दिया दान नहीं होता निष्फल ।
फिर अपात्रदान की प्रशंसा-प्रेरणा तो
दोषयुक्त ही है, निश्चित देती है दुष्फल।। ७४।।

७४. 'पात्र-अपात्र में दिया हुआ दान कभी विफल नहीं होता है' ऐसा कहना भी दोषपूर्ण है तो फिर अपात्रदान की प्रशंसा करने में कितना दोष होगा?

भावार्थ : "दरिद्र और क्षुद्र चरित्र वालों को आहार, वस्त्र, पात्रादि दान में पात्रपरीक्षा करते हुवे लज्जा भी नहीं आती?" जैसी उक्तियों से यह सिद्ध करना कि सत्पात्र (संयत, सम्यग्दृष्टि) को अथवा (असंयत, मिथ्यादृष्टि) असत्पात्र को दिया हुवा भक्तपानादि का दान निष्फल नहीं होता है, तथा सत्पात्र की तरह अपात्र में संनियुज्यमान अर्थात् वितीर्यमाण दान भी सफल ही होता है। इस प्रकार साधु यदि दाता को अपात्र दान के लिये प्रेरित करे अथवा अपात्र को दिये दान की प्रशंसा करे तो वैसे ही दोष का भागी होता है जैसे कि आज्ञाभंग, अनवस्था, मुग्धजनोत्पथस्थिरीकरण, सत्पथवैमुख्य आदि दोष या अपराध होते हैं।

Dāṇaṁ na hoi vihalaṁ
pattamapatte ya saṁniujjantaṁ /
Iya vi bhaṇie dosā
pasaṁsao kiṁ puṇa apatto // 74 //

Dānaṁ na bhavti viphalaṁ pātrāpātre saṁniyujyamānaṁ /
Ityapi bhaṇite doṣā praśaṁsataḥ kiṁ puno 'pātraṁ // 74 //

It is wrong to say : charity to deserving
or otherwise is never unrewarding |
So is praising charity to undesrving,
and is certainly merit thwarting || 74 ||

74. It is wrong to say that charity to the desrving or otherwise is never unrewarding. It is more so to praise the charity to the undesrving as it encourages the giver to be indiscriminate.

To encourage the giver for indiscriminate charity by saying that charity to the desrving and the undesrving is never unrewarding and quoting the quotes like, "Only those with mean and poor character do not feel ashamed in assessing the worth of the receiver of charity of food, clothes, etc" is flawed, then what to say of praising the charity to the undesrving? It is certainly as flawed as disobedience, falsification, strengthening the wrong ways of the wayward and going against the tenets of the faith. Therefore, it is improper for the monks to motivate the givers to give charity to the undesrving and to praise such charity.

गिहमागयाणमुच्चियं पडिसिद्धं

भगवया वि न हु सुत्ते।

जंपुण पदत्थमसुमंतघायणं

तं न जुत्तं ति।। ७५।।

गृहमागतानामुचितं प्रतिषिद्धं

भगवताऽपि नहि सूत्रे।

यत् पुनः तदर्थमसुमताघातनं

तन्न युक्तं इति।। ७५।।

घर आए अतिथि को दान है व्यवहार,

न ही है यह भगवत्शास्त्रनिषिद्ध।

किंतु फिर उनके लिये वसुमतादि,

जीवघात भी नहीं उचित्त।। ७५।।

७५. गृहस्थ के घर में आए हुए (अपात्र भी) याचक को दान देना लोक-व्यवहार को सिद्ध करना है, तथा यह व्यवहार भगवान द्वारा सूत्र में निषिद्ध भी नहीं किया गया है। किंतु फिर भी ऐसे अतिथियों के स्वागत सत्कार के लिये पृथिवीकायिकादि जीवों का घात करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। अतः ऐसे याचकों को दान देने में यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि ऐसा करने में किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो।

Gihamāgayāṇamucciyaṁ paḍisiddhaṁ

Bhagavayā vi na hu sutte /

Jaṁpuṇa tadatthasumantaghāyaṇaṁ

taṁ na juttaṁ ti // 75 //

Gṛhamāgatānāmucitaṁ pratiṣiddhaṁ

Bhagavatā'pi na hi sūtre /

Yat punaḥ tadarthamasumatāghātanaṁ

tanna yuktaṁ iti // 75 //

Charity to calling guests is customary,

and isn't denied by the Lord |

However, violating the living for them,

the host cannot afford || 75 ||

75. To entertain even the undeserving guests, like beggars, that call at the householder's residence is to observe the social custom and has not been denied by the Lord. However, to violate living beings of the earth bodies, water bodies etc, for entertaining them cannot be justified. Therefore, charity to such callers should be limited to giving them such things for which no violence what–so–ever is involved.

इह सत्तागाराई कहं न दिट्ठं जिणिंदधम्मम्मि।
इहरा इट्ठापूयं न निसिद्धं हुज्जं समयम्मि ।। ७६।।

अस्मिन् सत्रागारादि कथं न दृष्टं जिनेन्द्रधर्मे?।
इतरथा इष्टापूर्त्तं न निषिद्धं भवेत् समये ।। ७६।।

इसीलिये जिनेन्द्रधर्म में नहीं दीखता दानशालाओं का विधान।
अन्यथा नहीं करते इष्टापूर्त का, सिद्धान्त में निषेध भगवान।। ७६।।

७६. इस जिनेन्द्रधर्म में (वीतरागमत में) सत्रागारादि (दानशालादि) क्यों नहीं दिखाई देतीं हैं (अर्थात् इनका विधान क्यों नहीं है?) अन्यथा इष्टापूर्त (आवश्यकता की पूर्ति करने वाले वापी, कूप, जलाशय, देवायतन, हवन, अन्नदानगृह, आदि) का सिद्धांत में निषेध नहीं होता।

भावार्थ : यदि जिनमत में भी पृथ्विकायिकादि छःकाय की हिंसा करके भी दान करना चाहिये ऐसी स्वीकृति होती तो इस जिनेन्द्रधर्म में भी दानशाला आदि का विधान दिखाई क्यों नहीं देता है तथा इष्टापूर्त का भी शास्त्र में निषेध नहीं होता।

यहाँ ग्रंथकार एक युक्ति के माध्यम से यह सिद्ध करते हैं कि यद्यपि दान देना पुण्यकार्य है, किंतु वह पुण्योत्पादक तभी तक है जब तक वह दान सुपात्र को दिया जाता है। लोक व्यवहार साधने के लिये अपात्रदान का भी निषेध नहीं है किंतु इसके लिये किसी प्रकार की जीवहिंसा का निषेध है।

Iha sattāgārāī kahaṁ na diṭṭhaṁ

Jiṇindadhammammi /

Iharā iṭṭhāpūyaṁ nanisiddhaṁ

hujjaṁ samayammi // 76 //

Asmin satrāgārādi kathaṁ na

dṛṣṭaṁ Jinendradharme? /

Itarathā iṣṭāpūrttaṁ na

niṣiddhaṁ bhavet samaye // 76 //

Why don`t we see, then, the presence of

charity houses in the Jina order? |

Otherwise, fulfilling of other requirements

would not be denied by the scripture || 76 ||

76. The author raises a doubt that when the charity to the undeserving unrestrained beggars that call at the house isn't denied by the Jaina precept, then why don't we see the usual charity houses that regularly dispense food, clothing etc to the beggars? The reason was explained in the last verse, wherein it was stated that the charity to undeserving was proper, as a social custom, as long as it did not involve any violence towards the living beings. If it were not so, the scriptures won't deny fulfillment of other needs as well.

एवं विहपरिणामो सम्मदिट्ठीजिणेहिं पन्नत्तो।
तव्विह चिट्ठाइ पुणो नज्जइ भावो वि एयस्स।। ७७।।

एवं विधपरिणामः सम्यग्दृष्टिजिनैः प्रज्ञप्तः खलु[1]।
तद्विधचेष्टया पुनः ज्ञायते भावोऽपि एतस्य।। ७७।।

इस प्रकार का परिणाम सम्यग्दृष्टि का
जिनेश्वर देवों के द्वारा है प्रज्ञप्त।
उस प्रकार की चेष्टाओं द्वारा फिर
जाना जाता है, उसका भाव समस्त।। ७७।।

७७. स्म्यग्दृष्टि आत्मा इस प्रकार (अनुकम्पा) परिणाम वाला होता है, ऐसा सर्वज्ञ जिनों (जिनेश्वरदेवों) के द्वारा कहा गया है। इस (सम्यग्दृष्टि) के परिणामों (भावों) को उसके द्वारा किये गए कार्यकलापों (जीवरक्षण, जिनालयनिर्माण, पुस्तक लेखन, आदि) के द्वारा जाना जा सकता है।

भावार्थ : सम्यक्त्व के चतुर्थ लिंग - अनुकम्पा के वर्णन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार के अनुकम्पा-परिणामों से ही सम्यग्दृष्टि आत्मा की पहचान होती है तथा उसका वह भाव उसके द्वारा किये और कराए जाने वाले कार्यों के द्वारा ही ज्ञात होता है।

(इति चतुर्थ लिंगम्)

---

[1] 'खलु' का प्रयोग छन्द में मात्रा पूर्ति के लिये किया गया है।

Evaṁ vihapariṇāmo sammadiṭṭhījiṇehiṁ pannatto /
Tavviha ciṭṭhāi puṇo najjai bhāvo vi eyassa // 77 //

Evaṁ vidhapariṇamaḥ samyagdṛṣti–
jinaiḥ prajñptaḥ khalu /
Tadvidhceṣṭayā punaḥ jñāyate
bhāvo'pi etasya // 77 //

This is how we know the compassionate soul,
the omniscient Jinas said, therefore |
Which is obvious from his activities
as listed in the verses here to fore || 77 ||

77. The Omniscient Jinas have said that thus we know the rightly inclined compassionate soul. His compassionate mood is visible in his activities such as being non–violent towards the living beings, constructing the Jina temple, placing the Jina idol in that temple, etc.).

(THE FOURTH SIGN CONCLUDED)

पंचमलिंग : आस्तिक्य

सम्मदिट्ठी जीवो जहत्थावोहाणुगो तओ मुणइ।
परलोगाणुट्ठाणं न घडइ जीवं विणा सव्वं।। ७८।।

सम्यग्दृष्टिः जीवो यथार्थबोधानुगो ततः जानाति।
परलोकानुष्ठानं न घटते जीवं विना सर्वं।। ७८।।

सम्यग्दृष्टि जीव यथार्थबोध से जानता, इस बात को।
जीव के बिना सभी परलोकानुष्ठान, घट सकते नहीं कभी ।। ७८।।

७८. यथार्थबोधानुग (जिसको निरंतर शुद्ध सिद्धांत के श्रवण से यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ है) सम्यग्दृष्टि अरत्मा जानता है कि परलोक सम्बन्धी अनुष्ठान (जिनपूजा, दान, महाव्रतपालन, तप, ब्रह्मचर्यादि) बिना जीव (चेतन आत्मा) के घटित नहीं हो सकते हैं।

अथवा : इस गाथा में शास्त्रकार आस्तिक्य (आत्मा के अस्त्वि में सम्यक् श्रद्धा) की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि उपशम, संवेग, निर्वेद व अनुकम्पा युक्त सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर शुद्ध सिद्धान्तश्रवण से उत्पन्न सम्यक् बोध द्वारा यह जानता है कि जीव (आत्मा के अस्तित्व) के बिना परलोक संबन्धी सभी मान्यताएँ तथा सभी कार्यकलाप कभी भी घटित नहीं हो सकते है। अतः आत्मा के अस्तित्व में आस्था आवश्यक है।

FIRM BELIEF : THE FIFTH SIGN

Sammadiṭṭhī jīvo jahtthāvohāṇugo tao muṇai /
Paralogāṇuṭṭhāṇaṁ na ghaḍai jīvaṁ viṇā savvaṁ // 78 //

Samyagdṛṣṭiḥ jīvo yathārthabodhanugo tataḥ na jānāti /
Paralokānuṣṭhānaṁ na ghaṭate jīvaṁ vinā sarvaṁ // 78 //

The soul so rightly inclined,
knows by realistic reasoning that |
Without the soul, the happenings for after–life
cannot happen, and that's that || 78 ||

78. Then, the rightly inclined soul that has gained the ability of realistic reasoning (by listening to the right scriptural discourses) knows that all the happenings connected with the afterlife or the activities to ensure a good afterlife cannot happen unless thaere is a soul to which the happenings of afterlife must happen.

In this introductory verse on the fifth sign of righteousness – firm belief in the existence of the soul – the author establishes the need for having a firm fbeief in the existence of a soul endowed with the quality of consciousness and says that without such a soul it is not possible to have a rebirth and an afterlife.

अकयागमकयनासो विण्णाणखणम्मि भावओ सन्ते।
उदयाणंतरनासे जेण कयं सो न भुत्त त्ति।। ७६।।

अकृतागमकृतनाशौ विज्ञानक्षणे भावतः सन्ति।
उदयानन्तरनाशे येन कृतं स न भोक्ता इति।। ७६।।

अनकृत कर्म का आगम और कृत का नाश
विज्ञानक्षण में होता है भावतः ।
उदय के बाद नष्ट कर्म जिसने किये
वह नहीं भोगता है भोगतः।। ७६।।

७६. (बौद्धाभिमत के अनुसार) अकृत का आगम और कृत का नाश होता है (ऐसा मानने में परलोकानुष्ठान वृथा हो जाते हैं। क्योंकि शुभाशुभ कर्म के फल स्वरूप ही व्यक्ति को स्वर्ग-नरकादि की प्राप्ति होती है।) तथा विज्ञानक्षण में क्षणिक ज्ञान परमार्थतः रहता है तो भी उत्पत्ति के पश्चात् विनाश होने के कारण कर्म का कर्ता उसका भोक्ता नहीं होता है (अर्थात् कर्म करने वाला और भोगने वाला पृथक-पृथक है, का प्रसंग उपस्थित होता है।)

भावार्थ : बौद्धों के क्षणिकवाद को यदि सत्य मानते हैं तो अकृतागम व कृतनाश नामक दोष उत्पन्न होता है क्योंकि उत्पत्ति के पश्चात् ही उसका विनाश है तब जिसके द्वारा कर्म किया गया वह उसका भोक्ता नहीं बन सकता है।

Akayāgamakayanāso viṇṇāṇakhaṇammi bhāvao sante /
Udayāṇantaranāse jeṇa kayaṁ so na bhutta tti // 79 //

Akṛtāgamakṛtanāśaḥ vijñānakṣaṇe bhāvatah santi /
Udayānantaranāśe yena kṛtaṁ sa na bhoktā iti // 79 //

Fruition of undone and destruction of done
happens momentarily and volitionally |
Karma destroyed on fruition
do not come to fruition again traditionally || 79 ||

79. (According to the Buddhist view–point of momentariness or *Kṣaṇikavāda*) the undone karma comes to fruition and the done ones are dstroyed. If this view is taken, all the endeavour for the afterlife become meaningless, because one gets pleasurable heavenly rebirth or a painful hellish one only according to the merit or demerit of one's own performed actions. However, according to the theory of momentariness, as the doer is instantly destroyed, he does not become the enjoyer of the fruition of his actions. Meaning that the doer and the enjoyer of the result are two different beings. This thesis being unsupported by the tenets of logic cannot be accepted. Therefore, the theory of momentariness remains unsupported by logic.

संताणो उ अवत्थू

अचेअणाओ य चेयणमजुत्तं।

जुज्जइ सहकारित्तं

नूणमुवादाणरूवत्तो ।। ८०।।

सन्तानस्तु अवस्तु

अचेतनाच्च चेतनमयुक्तं।

युज्यते सहकारित्वं

नूनमुपादानरूपत्वः ।। ८० ।।

संतान अवस्तु होती है, और

अचेतन से चेतन नहीं सम्भव।

उपादान होने पर ही तो,

निमित्त कारण होता सम्भव।। ८०।।

८०. (प्रत्युत्तर में यदि बौद्ध यह कहें कि सन्तान प्रवाह से कर्ता और भोक्ता का एक्य है तो यह उचित नहीं है क्योंकि) संतान अवस्तु (पदार्थ) है तथा अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं हैं क्योंकि उपादान होने पर ही सहकारी (निमित्त) कारण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

Santāṇo u avatthū

aceaṇāo ya ceyaṇamajuttaṁ /

Jujjai sahakārittaṁ

nūṇamuvādāṇarūvatto // 80 //

Santānastu avastu

acetanācca cetanamayuktaṁ /

Yujyate sahakāritvaṁ

nūnamupādānarūpatvaḥ // 80 //

Progeny is insentient matter, and

sentient is impossible from insentient |

Because causatory agency can only work,

when the basic material is present || 80 ||

80. (In reply if the Buddhists say that the doership and enjoyership is vested in the same person due to the current of progeneration, their argument is invalid, because) the (yet to be born) progeny is nonexistent (matter) and the birth of sentient (enjoyer) is not possible from the insentient supposedly progenerated matter of the doer. It is so, because the causatory agency can work only when the basic material, which is to be worked on, is available.

इह पुण्णपावपभवा
सुहदुहसंवित्ति जंतुणो जम्हा।
ता देवसुया णाणं
सुहदुहसंवेयणं नत्थि ।। ८१।।

अस्मिन् पुण्यपापप्रभवा
सुखदुःखसंवित्तिः जन्तोः यस्मात्।
तस्मात् देवसुता ज्ञानं
सुखदुःखसंवेदनं नास्ति।। ८१।।

जीव प्राप्त करते सुख-दुःख,
पुण्य-पाप प्रभाव से।
पर देवसुता के ज्ञान में,
सुख-दुःख संवेदन है ज्ञान स्वभाव से।। ८१।।

८१. इस लोक में जीव पुण्य-पाप (कर्म-प्रकृति) के प्रभाव से सुख-दुःख संवित्ति (अनुभव या भोग) को प्राप्त करते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इनसे पृथक भी कोई भोग करने वाला चेतन (आत्मा) है। देवसुता (बुद्धपुत्र या आलय विज्ञानवादी) के मत में सुख-दुःख का संवेदन (अनुभव) ही ज्ञान चेतना है और उससे पृथक किसी चेतन तत्त्व की सत्ता नहीं है।

Iha puṇṇapāvapabhavā

suhaduhasaṁvitti jantuṇo jamhā /

Tā devasuyā ṇāṇaṁ suhaduha–

saṁveyaṇaṁ natthi // 81 //

Asmin puṇyapāpaprabhavā

sukhaduḥkhasaṁvitti jantoḥ yasmāt /

Tasmāt devasutā jñānaṁ sukhaduḥkha–

saṁvedanaṁ nāsti // 81 //

Due to meritorious or sinful acts,

the soul feels the pleasure or pain |

But in Devasutas' views the feeling is

nothing but knowledge, again || 81 ||

81. In this world, the living beings get pleasurable or painful feelings due to their auspicious or inauspicious nature of karma. This proves that there is a living and conscious soul other than this feeling, which feels. However, in the views of *Devasutā*, this feeling itself is knowledgeable and conscious feeler, any separate conscious elmental entity doesn't exist. It is obvious that this argument is fallacious.

पइजंतुभेयं भिन्नो जीवो

इहरा उ सव्वजीवाणं।

संसारो मुक्खो वा विरोहओ उ

कह णु एगत्तं।। ८२।।

प्रतिजंतुभेदं भिन्नः जीवः

इतरथा तु सर्वजीवानाम्।

संसारः मोक्षः अथवा विरोधस्तु

कथं नु एकत्वम्।। ८२।।

प्रत्येक जन्तु के भेद से जीव भिन्न है,

अथवा संसार-मोक्ष भी।

सबका होगा एक साथ-अभिन्न,

कैसे हो एकात्मा का बोध भी?।। ८२।।

८२. प्रति व्यक्ति के भेद से जीव (आत्मा) भिन्न-भिन्न हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो सभी जीवों के संसार (परिभ्रमण) अथवा मोक्ष एक साथ होने का प्रसंग उपस्थित होगा (संभावना बनेगी)। अतः आत्मा एक कैसे हो सकता है? (इस प्रकार एकात्मवादियों के मत का निरसन होता है।)

Paijantubheyaṁ bhinno jīvo

iharā u savvajīvāṇaṁ /

Saṁsāro mukkho vā virohao u

kaha ṇu egattaṁ // 82 //

Pratijantubhedaṁ bhinnaḥ jīvaḥ

itarathā tu sarvajīvānāṁ /

Saṁsāraḥ mokṣaḥ vā virodhatastu

kathaṁ nu ekatvaṁ // 82//

Every living being is a separate soul,

or else the worldly wandering or liberation |

Will be common for everyone, which is not

how can, then, the soul be common? || 82 ||

82. Every living being has a seaparate soul. If that be not so, that is if everyone has the same – a common soul, everyone will either go about in the worldly transmigration together or everyone will liberate together. From what we see, it is not so. Therefore, it follows that there is no common soul and, by implication, everyone has a separate soul. (This effectively refutes the contention of the believers of single soul or *Ekā tmavadins*).

सोवि य संकोयविकाससंगओ

देहवावगो नियमा।

भोगाययणेणवि तस्स हंदि

जोगो समो इहरा।। ८३।।

सोऽपि च संकोच-विकाससंगतः

देहव्यापकः नियमात्।

भोगायतनेनापि तस्य हन्त

योगः समः इतरथा।। ८३।।

वह जीव भी संकोच-विकास युक्त,

और स्वदेहव्यापी है नियमात्।

अथवा अन्य शरीरों से भी,

सुख-दुःख वेदन हो व्याख्यात्।। ८३।।

८३. वह (आत्मा) भी संकोच-विकास से युक्त और नियम से स्वदेह व्यापी (आत्मा के स्वयं के शरीर प्रमाण) है। उसका शरीर से संयोग सम्बन्ध है। अथवा (यदि ऐसा न हो तो) आत्मा द्वारा स्वशरीरवत् परशरीर से भी सुख-दुःख वेदन का प्रसंग उपस्थित होता है, जब कि व्यवहार में ऐसा होता नहीं है क्योंकि व्यक्ति को अपने शरीर से ही सुख-दुःख का अनुभव होता है अन्य के शरीर से नहीं। (अतः प्रति शरीर आत्मा भिन्न-भिन्न है ऐसा मानना चाहिये।)

Sovi ya saṅkoyavikāsasaṅgao

dehavāvago niyamā /

Bhogāyayaṇeṇavi tassa handi

jogo samo iharā // 83 //

So'pi ca saṅkocha–vikāsasaṅgataḥ

dehavyāpakaḥ niyamāt /

Bhogāyatanenāpi tasya hanta

yogaḥ samah itarathā // 83 //

That soul, too, is body–related and contracts

and expands as per the occupied body |

Otherwise it will also feel the pleasure

and pain of the others' body || 83 ||

83. Furthering the argument in favour of separateness of the souls for every living being, the author elaborates that every body has a specific soul that is related to it and, that contracts and expands according to the size of the body it occupies at any point of time. If that were not so, and every one had a common soul, one would feel the pleasures and pains of the others' bodies as well. However, practically it is not so. Therefore, it must be believed that every body has a seaparate soul that is specific to it.

तव्वइरित्तो धम्मा-धम्मगासाई

होइ अजीवो वि।

अगमविहिया धम्मा-

धम्मागासो मुणेयव्वा।। ८४।।

तद्व्यतिरिक्तः धर्माधर्माकाशादियः

भवति अजीवोऽपि।

आगमविहिता धर्मा-

धर्माकाशाः ज्ञातव्याः।। ८४।।

उस चेतन आत्मा के अतिरिक्त,

होते हैं धर्मा-धर्माकाशादि अजीव भी।

जिनके स्वरूप का ज्ञान तो,

देते हैं आगम शास्त्र ही।। ८४।।

८४. उस (चेतन आत्मा) के अतिरिक्त धर्म (धर्मास्तिकाय), अधर्म (अधर्मास्तिकाय), आकाश, आदि अजीव पदार्थ भी हैं। आगम में विहित (बताए गए) लक्षणों के द्वारा इन (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, और पुद्गल) के स्वरूप को जानना चाहिये।

Tavvairitto dhamma–dhammāgāsāī

hoi ajīvo vi /

Āgamavihiyā dhammā–

dhammāgāso muṇeyavvā // 84 //

Tadvyatiriktaḥ dhrmādharmākāśādi

bhavati ajīvo'pi /

Āgamavihitā dharmā–

dharmākāśāḥ jñātavyāḥ // 84 //

Besides the conscious soul, ether, non–ether,

space, etc are there as non–living matter |

From the pages of canonical works,

we know their attributes better || 84 ||

84. Mentioning the existence of non–living matter, the author says that besides the conscious soul, there are various kinds of non–living substances such as ether (*Dharmastikāya* or medium of motion), non–ether (medium of rest or *Adharmā stikāya*), space (*Ākāśa*), time (*Kāla*), and manifest substance (*Pudgala*) as well. The qualities and attributes of these non–living substances are described in the canonical works and for their better understanding they must be learnt from there.

जइ पुग्गला न हुज्जा

आगारो किं न होइ सव्वत्था।

सुविणो वि अणुहविज्जइ

दिणोवलद्धो फुडं अत्था।। ८५।।

यदि पुद्गलाः न भवेयुराकारः

किं न भवति सर्वत्र।

स्वप्नेऽपि अनुभूयते

दिनोपलब्धः स्फुटं अर्थः।। ८५।।

यदि पुद्गल नहीं होते तो जगत में,

कोई भी आकार कैसे होता संभव?।

आकार से ही दिन में देखे पदार्थ को,

स्वप्न में भी देखता स्पष्ट मानव।। ८५ ।।

८५. यदि (प्रतिवादी, पूर्वपक्षी) कहे कि पुद्गल नहीं होने चाहिये तो क्या आकार (पदार्थ की आकृति) सर्वत्र नहीं होती है? (जब कि उनकी विशिष्ट आकृतियों के कारण ही) व्यक्ति दिन में देखे हुए पदार्थ को स्वप्न में भी स्पष्ट अनुभव करता है (देखता है)। (इस गाथा में शास्त्रकार पुद्गल का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।)

Jai puggalā na hujjā āgāro

kiṁ na hoi savvatthā /

Suviṇo vi aṇuhavijjai

diṇovaladdho phuḍaṁ atthā // 85 //

Yadi pudgalā na bhaveyurākāraḥ

kiṁ na bhavati sarvatra /

Svapne'pi anubhūyate

dinopalabdhaḥ sphuṭaṁ arthaḥ //85//

If the Pudgala were not there,

how could we shape of things gain? |

Objects seen during the day,

appear clearly in the dreams again || 85 ||

85. To prove the existence of the material and tangible substance – *Pudgala*, the author says, "if the opponent maintains that *Pudgala* should not be there, we must ask him that without the tangible matter, how can the things take their shapes? And it is obvious that the things have their specific shapes and the objects seen during the day cast such impressions on our minds that we can clearly feel their shapes in our dreams as well."

सुहपयडीओ पुण्णं
असुहाओ हुंति पावरूवा उ।
सुहिदुहिजणोववाओ
इत्तुच्चियं जं समा भूया ।। ८६ ।।

शुभप्रकृतयः पुण्यं
अशुभः भवति पापरूपास्तु।
सुखीदुःखीजनोपपातः
अतएव यतः समानि भूतानि।। ८६ ।।

शुभ प्रकृति पुण्य है और निश्चित ही,
अशुभ प्रकृति होती है पाप रूप।
अतः आत्मना समान होने पर भी,
सुखी-दुःखी जीव हैं जग में अनूप।। ८६ ।।

८६. (कर्म प्रकृतियों के संदर्भ में) शुभ प्रकृति (के कर्म या कार्य) पुण्यरूप (कर्म-बन्ध के कारण) होते हैं तथा अशुभ प्रकृति (के कर्म या कार्य) पापरूप (कर्म-बन्ध के कारण) होते हैं। इसीलिये सभी जीव (आत्मा के रूप में) समान होने पर भी (जगत में शुभाशुभ प्रकृतियों के कारण ही) सुखी-दुःखी प्राणियों के रूप में उत्पन्न होते हैं, अर्थात् सुख-दुःख को प्राप्त करते हैं। (यहाँ शास्त्रकार जीवों की आत्मना समानता तथा कर्मणा असमानता का निर्देश करते हैं।)

Suhapayaḍīo puṇṇaṁ

asuhāo hunti pāvarūvā u /

Suhi–duhijaṇovavāo

ittucciya jaṁ samā bhūyā // 86 //

Śubhaprakṛtayaḥ puṇyaṁ,

aśubhaḥ bhavati pāparūpāstu /

Sukhīduḥkhījanopapātaḥ,

ataeva yataḥ samāni bhūtāni // 86 //

Pious acts earn merit and certainly,

demerit earn the impious ones |

So, otherwise equal souls, too, are

seen as happy and unhappy ones || 86 ||

86. (From the karmic nature point of view) the pious actions result in meritorious karmic bondage that yields pleasant consequences for the doer, and the impious actions result in the bondage of sinful karmic bondage that yields unpleasant consequences for the doer. It is for this reason that otherwise equal souls also take birth as happy or unhappy creatures. (Here, the author presents the spiritual equality and temporal inequality of all worldly living beings.)

सुहदुहरूवो नियमेण अत्थि

तह आसवो भवत्थाण।

सदणुट्ठाणा पढमो

पाणवहाईहिं बीओ उ।। ८७।।

शुभाशुभरूपः नियमेन अस्ति

तथा आस्रवः भवस्थानाम्।

सदनुष्ठानात् प्रथमः

प्राणिवधादिभ्यः द्वितियस्तु ।। ८७।।

नियम से शुभाशुभ आस्रव होते हैं,

प्राणियों के अपने भाव-विभाव से।

तथा शुभ कार्य से शुभास्रव और

हिंसादि से अशुभ स्वभाव से।। ८७।।

८७. वैसे संसारी प्राणियों के (उनके अपने भाव या विभाव तथा सुकर्म या दुष्कर्म से) शुभ-अशुभ रूप (कर्म) आस्रव नियम से होते हैं। सदनुष्ठान (सत्कार्य करने) से पहला (शुभास्रव) होता है तथा जीवहिंसादि (असत्कार्य से) दूसरा (अशुभास्रव) होता ही है।

Suhaduharūvo niyameṇa atthi

taha āsavo bhavatthāṇa /

Sadaṇuṭṭhāṇā paḍhamo

pāṇavahāīhiṁ bīo u // 87 //

Śubhāśubharūpaḥ niyamena asti

tathā āsravaḥ bhavasthānāṁ /

Sadanuṣṭhānāt prathamaḥ

prāṇivadhādibhyaḥ dvitiyastu // 87 //

Auspicious or inauspicious karmic influx

follows as per the doers' moods |

Auspicious influx for pious deeds,

and inauspicious if violence one moots || 87 ||

87. For such worldly living beings the auspicious or inauspicious karmic influx certainly occurs according to their moods while doing things. Also, the good or pious deeds result in the first kind of (auspicious) karmic influx (that yields pleasurable retribution), and bad or impious deeds result in the second (inauspicious) kind (that yields painful retribution). Here the author establishes a cause and effect relationship.)

पाणवहाईहिंतो सुहासवो

किं न सोयरीयाण।

कह हुज्ज आगमो

जीवघायसंदंसगो सुद्धो।। ८८।।

प्राणवधादिभ्यः शुभास्रवः

किं न शौकरिकाणाम्।

कथं भवेत् आगमः

जीवघातसन्दर्शकः शुद्धः।। ८८।।

यदि जीवहिंसा से शुभास्रव होता हो तो,

कसाई-कर्म भी होगा शुद्ध।

कैसे हो हिंसा प्रतिपादक आगम शुद्ध,

पूछते सभीजन बुद्ध-प्रबुद्ध।। ८८।।

८८. (यदि प्रतिवादी पूछें कि) क्या शौकरिकों (हिंसक कर्मकाण्ड करने वाले व शूकरादि का शिाका करने वाले) को जीवहिंसादि (कर्मकाण्ड में पशुवध आदि) से शुभास्रव नहीं होता है? (तो इसका समाधान यह है कि) यदि ऐसा हो तो कसाइयों (शिकारियों) को शुभास्रव क्यों नहीं होगा? अतः जीवहिंसा प्रतिपादक आगम (शास्त्र) शुद्ध कैसे होगा?

Pāṇavahāīhinto suhāsavo

kiṁ na soyarīyāṇa /

Kaha hujja āgamo

jīvaghāyasandaṁsago suddho // 88 //

Prāṇavadhādibhyaḥ śubhāsravaḥ

kiṁ na śaukarikāṇāṁ /

Kathaṁ bhavet āgamaḥ

jīvaghātasandarśakaḥ śuddhaḥ // 88 //

If the killing priests can earn piety,

so must the pig–hunters' deed |

How can, then, the violence preaching canon,

be pious and pure, indeed || 88 ||

88. (If the opponent raises the question, "Don't the ritual offerings of animal sacrifice, etc by the priests in the sacrificial ritual, earn merit?", the answer is, "If that be so, the killing of animals by the pig–hunters must also earn merit for them." However, as that is not correct, how can the violence preaching canon (animal sacrifice prescribing scriptures) be pious and pure? Meaning that they are not.

एत्तो च्चिय अत्थि फुडं

सव्वन्नू विगयदोससब्भावो ।

कह सग्गमुक्खयोगो

दाणतवो विणयमाईणं।। ८९।।

जइ हुज्ज न तव्वयणं

पमाणमेयम्मि हंदि वत्थुम्मि।

जुत्तीहिं तस्स साहणमणत्थयं

किं न भे भवइ।। ९०।।

अतएव अस्ति स्फुटं

सर्वज्ञः विगतदोषसद्भावः।

कथं स्वर्गमोक्षयोगः

दानतपः विनयादीनाम् ।। ८९।।

यदि न भवेत् तद्वचनं

प्रमाणमेतस्मिन् हंत वस्तुनि।

युक्तिभिः तस्य साधनमनर्थकं

किं न भवतां भवति ।। ९०।।

Etto cciya atthi phuḍaṁ

savvannū vigayadosasabbhāvo /

Kaha saggamukkhayogo

dāṇatavo viṇayamāīṇaṁ // 89 //

Jai hujja na tavvayaṇaṁ

pamāṇameyammi handi vatthummi /

Juttīhiṁ tassa sāhaṇamaṇatthayaṁ

kiṁ na bhe bhavai // 90 //

Ataeva asti sphuṭaṁ

sarvajñaḥ vigatadoṣasadbhāvaḥ /

Kathaṁ svargamokṣayogaḥ

dānatapaḥ vinayādināṁ // 89 //

Yadi na bhavet tadvacanaṁ

pramāṇametasmin hanta vastuni /

Yuktibhiḥ tasya sādhanamanarthakaṁ

kiṁ na bhavatāṁ bhavati // 90 //

अतः स्पष्ट ही है कि, राग-द्वेष के

अभाव से ही होता है साधक सर्वज्ञ।

अन्य क्या दान-तप-विनयादि का,

स्वर्ग-मोक्षयोग कर सकता अज्ञ।। ८९।।

यदि ऐसे सर्वज्ञ का वचन नहीं

होता प्रमाण, इस सब पदार्थ में।

तो क्या इसमें युक्ति-सिद्ध साधन भी,

नहीं निरर्थक - व्यर्थ में?।। ९०।।

८९-९०. (जीव दया का उपदेशक आगम ही प्रमाण होता है) इस कारण से जिसका मोह क्षीण हो चुका है तथा जिसके राग-द्वेष का अस्तित्त्व ही समाप्त हो चुका है, वही साक्षात् सर्वज्ञ है। (यदि सर्वज्ञ नहीं होते तो) दान, तप, विनय आदि का स्वर्ग और मोक्ष के साथ (तथा हिंसा, चोरी आदि का नरकादि गति के साथ) सम्बन्ध कैसे (स्थापित) होता? अर्थात् इस सम्बन्ध का दिग्दर्शन व व्याख्यान कौन करता? इन सब पदार्थों में सर्वज्ञ का वचन ही प्रमाण है। (प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध) उस सर्वज्ञ की सिद्धि अनुमान आदि प्रमाणों से करना (आप जैसे सर्वज्ञवादी नैयायिकों के मत में) निरर्थक व निष्प्रयोजन नहीं होगा?

भावार्थ : इन गाथाओं में उनके गुणों का खुलासा करके शास्त्रकार ने सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष प्रमाणित व उनके कथन को ही प्रमाण माना है।

It is clear that only attachment–aversion
transcended aspirant can be omniscient |
Is it possible to connect charity, etc to
heaven and liberation for an ignorant? || 89 ||

And His words are the irrefutable proofs
in all such matters found |
Or else, in vain will be the
well–reasoned proofs that abound || 90 ||

89–90. (As the scripures that teach non–violence are the pure and pious scriptures and can be accepted as proofs) so, the great spiritual aspirants whose delusion has been overcome and whose attachment and aversion have been transcended are said to be the omniscient Jinas. (In the absence of such omnicient Jinas) who could have ssen the interrelationship between charity, penance, humility, etc and heaven and liberation or between violence and theft and hellish destinies? It goes without saying that the omniscience of such detached ones is self–evident and does not require any elaborate and connived proof. Also, their words are the ultimate proofs in such matters spiritual.

In these two verses, the author has put forth the view that omniscience can be gained by only those spiritual aspirants who overcome the flaws like delusion and attacment–aversion and that what they say is absolute truth, which requires no proof.

पावट्ठाणेहिंतो विरई

ववहारसंवरो होइ।

निच्छयणयेण सेलेसिगाइ

जमणंतरो मुक्खो।। ६१।।

पापस्थानेभ्यः विरतिः

व्यवहारसंवरः भवति।

निश्चयनयेन शैलेशिकायां

यदनन्तरः मोक्षः।। ६१।।

पापस्थानों से विरति से तो, व्यवहारसंवर होता है परोक्ष। निश्चयनय से शैलेशी ही संवृत्त है जहाँ से होता तत्काल मोक्ष।। ६१।।

६१. व्यवहार संवर पापस्थानों[1] से विरति रूप व परोक्षतः होता है। निश्चयनय से (तत्त्वतः या तार्किक दृष्टि से) शैलेशीकरण[2] (मोक्ष-साधना के चरम क्षणों में शैलेशि नामक अवस्था) में ही संवर होता है, जिसके अनन्तर (तत्काल) मोक्ष[3] होता है। यहाँ शास्त्रकार व्यवहार व निश्चय संवर में अन्तर स्पष्ट करते हैं।

---

१ प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुनादि आस्रवद्वार पापस्थान हैं।

२ शैलेशी अवस्था मोक्ष-साधना का चरम क्षण है।

३ संपूर्ण कर्मक्षय से प्राप्त सर्वयोगों का निरोध ही मोक्ष है।

Pāvaṭṭhāṇehinto viraī
vavahārasaṁvaro hoi /
Nicchayaṇayeṇa selesigāi
jamaṇantaro mukkho // 91 //

Pāpasthānebhyaḥ viratiḥ
vyavahārasaṁvaraḥ bhavti /
Niścayanayena śaileśikāyāṁ
yadanantaraḥ mokśaḥ // 91 //

Refraining from sinfull deeds is karmic stoppage – practically |
Only *Śaileśī* state is said to be karmic stoppage –absolutely ||91||

91. From the practical standpoint, karmic stoppage (*saṁvara*) occurs when one refrains from indulging in sinful activities such as violence towards the living beings, theft, etc, and from the absolute standpoint the only time the living soul stops all karmic influx is when he attains the rocklike unshakeable spiritual state known as *Śaileśī* – the highest point in one's endeavour for spiritual emancipation and liberation from the mundane existence. It is so high a spiritual accomplishment that from this *Śaileśī* state one instantaneously attains the liberated state.

तवसा उ निज्जरा इह हंदि

पसिद्धा उ सव्ववाईणं।

इहरा तवो विहाणं

किरियावाईण कह जुत्तं ।। ६२।।

तपसा तुः निर्जरा इह हंत

प्रसिद्धा तुः सर्ववादीनाम्।

इतरथा तपो विधानं

क्रियावादीनां कथं युक्तम्?।। ६२।।

तप से होती है कर्म निर्जरा यह तो,

मानते हैं वादी और प्रतिवादी भी।

अन्यथा तप का विधान,

कैसे करते क्रियावादी भी।। ६२।।

६२. यहाँ (इस प्रसंग में) तप से निर्जरा होती है, ऐसा तो सभी वादों के मानने वाले मानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो क्रियावादियों में भी तप का विधान कैसे उचित होता?

Tavasā u nijjarā iha handi
pasiddhā u savvavāīṇaṁ /
Iharā tavo vihāṇaṁ
kiriyāvāīṇaṁ kaha juttaṁ // 92 //

Tapasā tu nirjarā iha hanta
prasiddhā tu sarvavādīnāṁ /
Itarathā tapo vidhānaṁ
kriyāvādīnāṁ kathaṁ yuktaṁ // 92 //

The followers of all faiths accept
karmic separation through penance |
Otherwise, how could the actionists hold
the penance–prescribing stance? || 92 ||

92. The followers of all faiths universally accept that the practice of penance results in karmic separation. If that were not so, how could the actionists (*kriyāvādins*) justify the prescription of penance in their faith?

After dealing with the elements of karmic influx (*āsrava*) and stoppage (*saṁvara*), the author deals with the element of karmic separation *(nirjarā*) and says that it can be achieved through practicing of penance.

मिच्छत्ताइनिमित्तो बंधो
इहरा कहं तु संसारो।
न य लोगे वि अबद्धो
मुच्चइ पयडं जओ हंदि।। ६३।।

मिथ्यात्वादिनिमित्तो बन्धः
इतरथा कथं तु संसारः।
न च लोके अपि अबद्धः
मुच्यते प्रकटं यतः हंत।। ६३।।

मिथ्यात्वादि निमित्तों से होते हैं बन्ध,
अन्यथा कैसे हो भव-संसार?।
लोक में जो है ही नहीं आबद्ध,
उसकी कैसी मुक्ति, कैसा उसका भव-संसार।। ६३।।

६३. मिथ्यात्व आदि (अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) हेतुओं से ही बन्ध संभव हैं, इनके बिना संसार भ्रमण भी कैसे संभव है? लोक व्यवहार की दृष्टि से भी आबद्ध (बन्धनयुक्त) जीव ही मुक्त होते हैं। जो बंधा ही नहीं है उसे प्रकट रूप से कैसे मुक्त कराया जा सकता है?

भावार्थ : तत्त्वतः लोक में बद्ध की मुक्ति होती है अतः उस हेतु उपायों का निरूपण है न कि अबद्ध के मोक्ष का।

Micchattāinimitto bandho

iharā kahaṁ tu saṁsāro /

Na ya loge vi abaddho muccai

payaḍaṁ jao handi // 93 //

Mithyātvādinimitto bandhaḥ

itarathā kathaṁ tu saṁsāraḥ /

Na ca loke api abaddho mucyate

prakaṭaṁ yataḥ hanta // 93 //

The 'bondage' is caused by false–belief, etc,

no worldly wandering otherwise |

Practically the bonded liberate,

what liberty for the free? Ask the wise || 93 ||

93. The bondage is caused by causes like false belief etc. (non–renouncement, lack of vigilence, passions and physical mental and vocal activities). There is no worldly transmigration without bondage. Again, from the practical standpoint, only those that are bound can be set free, there is no sense in talking of liberation for the one that has no bondage at all. How can the unbonded be liberated practically?

तदणाइसिद्धजोगो असंगओ न य अन्नबंधम्मि।
अन्नो मुच्चइ जुत्तं खणभंगो ता कहं भवउ?।। ६४।।

तदनादिसिद्धयोगः असंगतः न च अन्यबन्धे।
अन्यो मुच्यते युक्तं क्षणभंगः तत् कथं भवतु?।। ६४।।

अनादि सिद्धयोग भी नहीं उचित क्योंकि,

हो नहीं सकती बंधन बिन मुक्ति।

क्षणिकवाद की क्षण-क्षण में बंध और मुक्ति

की भी उचित नहीं है युक्ति।। ६४।।

६४. और उस (उपर्युक्त) कारण से अनादि सिद्ध योग संगत नहीं है। (क्योंकि सिद्ध या मुक्त तो वही हो सकता है जो पहले बद्ध हो, अतः अनादि सिद्धत्त्व संभव नहीं है।) इसी प्रकार क्षणिक वादियों की एक क्षण में बंध और दूसरे क्षण में मुक्ति का तर्क भी उचित नहीं हैं (क्योंकि इसमें भी 'बन्ध किसी का और मुक्ति किसी और की' का अतर्कसंगत प्रसंग उपस्थित होता है।)

भावार्थ : जो अनादिमुक्त पुरुषविशेष से ईश्वर की सिद्धि करते हैं वह भी संगत नहीं है क्योंकि यदि ईश्वर मुक्त है तो वह पहले बंधनयुक्त अवश्य रहा होगा। (क्षणिकवादियों) के मत में जो 'एक क्षण में बंध और अन्य क्षण में मोक्ष' की धारणा भी युक्त नहीं है।

Tadaṇāisiddhajogo asaṅgao
na ya annavandhammi /
Anno muccai juttaṁ
khaṇabhaṅgo tā kahaṁ bhavau // 94 //

Tadanādisiddhayogaḥ asaṅgataḥ
na ca anyabandhe /
Anyo mucyate yuktaṁ
kṣaṇabhaṅgaḥ tat kathaṁ bhavatu // 94 //

Initially liberated state is also not logical as,
without bondage no liberation is possible |
Kṣaṇikvāda's, bondage in a moment
and frredom the next is also illogical || 94||

94. (For the reasons cited earlier) the initial liberated state, also beats logic, because the liberated state (*siddhatva* or *mukti*) implies initial bondage and then liberation from that bondage. Similarly, the concept of bondage in one instance and freedom from it in the very next moment, as believed by the believers of the theory of momentariness, is also illogical as it implies that the one bound and the one liberated are different.

वज्झइ पयडी नेव य मुच्चइ य जीवो अइप्पसंगाओ।
निस्सेसकम्ममुक्के पुणरागमणं कुओ होइ?।। ६५।।

बध्यते प्रकृतिः नैव च मुच्यते च जीवः अतिप्रसंगात्।
निःशेषकर्ममुक्ते पुनरागमनं कुतः भवेत्? ।। ६५।।

प्रकृति बंधती और पुरुष होता मुक्त,
इसमें आता है अतिप्रसंगदोष वैसे।
निःशेषकर्ममुक्त होने पर,
पुनरागमन होता है कैसे?।। ६५ ।।

६५. (तथा क्षणिकवादी बौद्धों के समान ही वैशेषिकमत भी समीचीन नहीं है क्योंकि इसमें) प्रकृति का बन्ध और जीव (पुरुष) का मोक्ष होता है, और ऐसा मानने में अतिप्रसंग दोष आता है। तथा समस्त कर्मों से मुक्त होने के पश्चात् (ईश्वर रूपी जीव का) पुनरागमन (अवतार) कहाँ से होगा, अर्थात् कैसे हो सकता है?

भावार्थ : वैशेषिक दर्शन में प्रकृति बंधती है और पुरुष मुक्त होता है, यहाँ अतिप्रसंग दोष है (क्योंकि अबद्ध की मुक्ति लोकव्यवहार से भी विरुद्ध है) तथा समस्त कर्ममुक्त होने के पश्चात् पुनरागमन होना मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।

Vajjhai payadī neva ya muccai ya jīvo aippasaṅgāo /
Nissesakammamukke puṇarāgamaṇami kuo hoi? // 95 //

Badhyate prakṛtiḥ naiva ca mucyate ca jīvaḥ atiprasaṅgāt /
Niḥśeṣakarmamukte punarāgamanami kutaḥ bhavet? // 95 //

Belief that '*Prakṛti*' is bonded and '*Puruṣa*' is liberated'
is in a flawed strain |
How can He, whose karmic bonds have been fully shed,
reincarnate again || 95 ||

95. Having effectively refuted the flawed belief of the Buddhists, believing in the theory of momentariness, the author now avers to the belief of the *Vaiśeṣika* philosophy that states, "*Prakṛti* is bonded and *Puruṣa* is liberated," and proceeds to refute this belief by advancing the argument that this belief is also flawed by the flaw called '*atiprasaṅga*' because according to general practice, too, the unbound cannot liberate. Again, he says that their belief of reincarnation of the liberated God is also flawed in that how can a soul that has fully shed its karmic encumbrance come back to lead a worldly life full of karmic bondage? Thus, he effectively refutes both flawed beliefs of the *Vaiśeṣikas* and reinforces own view.

ता नियपक्खनिरागारदंसणा एइ झत्ति मुत्तो वि।
एयमसंगमणिमित्तिमित्थ संसाररूवं जं।। ९६।।

तत् निजपक्षनिराकारदर्शनेन एति झटिति मुक्तोऽपि ।
एतदसंगतमनिमित्तिमत्र संसाररूपं यद्।। ९६।।

मुक्त ईश्वर भी निज पक्ष के निरादर से
संतप्त होकर लौट आता है ।
निमित्त-कारण नहीं इसमें कोई, फिर वह तो
पुनः संसारी हो जाता है।। ९६।।

९६. यहाँ प्रतिवादी (वैशेषिकमतावलम्बी) यह कहे कि - मुक्तात्मा (ईश्वर) भी स्वमत का तिरस्कार व निरादर देखकर (व्यथित होकर स्वमत के पुनरुत्थान, पुनरुत्कर्ष, व पुनर्स्थापना के लिये) शीघ्रता से पुनः संसार में लौट कर आता है तो यह बात भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि प्रथमतः तो उसके वापस आने का कोई (अवशिष्ट कर्मजन्य) निमित्त कारण नहीं है तथा द्वितीयतः ऐसा करने से तो वह मुक्तत्मा पुनः संसारी हो जाएगा।

भावार्थ : यहाँ शास्त्रकार वैशेषिको के इस मत का निरसन करते हैं कि ईश्वर धर्म (निजमत) की हानि देखकर अधर्म के अभ्युत्थान के लिये अवतरित होकर पुनः संसार में आते हैं। इसके लिये वे अवशिष्ट कर्मजन्य निमित्त के अभाव व मुक्त के संसारित्व रूपी असंगति को बाधक कारण मानते हैं।

Tā niyapakkhanirāgāradaṁsaṇā

ei jhatti mutto vi |

Eyamasaṅgamaṇimittimittha

saṁsārarūvaṁ jaṁ // 96 //

Tat nijapakṣanirākāradarśanena

eti jhaṭiti mukto'pi |

Etadasaṅgamanimittimatra

saṁsārarūpaṁ yat // 96 //

The liberated one, too, comes back

on seeing His own faith wane |

That is causatively unreasonable, and

how can the liberated be worldly again? || 96 ||

96. (The *Vaiśeṣikas* may advance the argument that) the liberated soul (the God) quickly comes back (reincarnates) when He sees that His own faith is being declined and derided. However, this argument is also untenable as it is flawed on two counts: firstly, there is no causative reason (in the form of remaining karmic encumbrance) that may result in His rebirth in the worldly form, and, secondly, how can a liberated soul become worldly again? Thus, the author effectivly refutes this misplaced belief.

नियया॒वही न हुज्जा संसारो अहमतुओ सया होउ।
मुक्खो कम्माभावो सासयजीवस्स भावो उ।। ६७।।

नियतावधिः न स्यात् संसारः अहेतुकः सदा भवतु।
मोक्ष कर्माभावः शाश्वतजीवस्वभावस्तु।। ६७।।

मुक्तात्मा के लिये संसार में समयावधि होती नहीं,
अहेतुक रहें तो फिर रहें सदा।
शाश्वत जीव का स्वभाव है मोक्ष रूपी कर्माभाव,
जिससे होती संसार से अलविदा।। ६७।।

६७. मुक्तात्मा के संसार में रहने की समय-मर्यादा नहीं होनी चाहिये, तथा बिना कारण (अवशिष्ट कर्म) के यदि संसार में रहते हैं तो फिर सदा के लिये रहना चाहिये। कर्म का अभाव ही मोक्ष है जो शाश्वत जीव का स्वभाव है।

भावार्थ : (पिछली गाथा में दिये गए निरसन को और आगे बढ़ाते हुए शास्त्रकार कहते हैं, क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता है अतः) मुक्तात्मा के पुनः संसार में एक निश्चित समयावधि के लिये लौटकर आना भी बिना (अवशिष्ट कर्म रूपी) कारण के नहीं होना चाहिये। (यदि) बिना कर्म-कारण के ही उनका पुनरागमन मान लिया जाय तो फिर तो उन्हें शाश्वत आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध सदा के लिये संसार में ही रहना चाहिये।

Niyayāvahī na hujjā saṁsāro
ahetuo sayā hou /
Mukkho kammābhāvo
sāsayajīvassa bhāvo u // 97 //

Niyatāvadhiḥ na syāt saṁsāraḥ
ahetukaḥ sadā bhavatu /
Mokṣa karmābhāvaḥ
śāśvatajīvasvabhāvastu // 97 //

The liberated soul cannot bide
a period of time in worldly existence |
And if they come without causative reason,
must ever display the mundane stance || 97 ||

96. (Taking the argument advanced against the reincarnation of the liberated God further, the author says) the liberated souls cannot come back to the worldly existence for a specific period of time without any caustive reason (which can only be the remaining karmic encumbrance) at their will and pleasure. Because, if they come back without reason, then they must stay in their worldly form forever against the true liberated nature of the eternal soul.

संताणस्स न नासो फलविरहा पुव्वपुव्वविरहोवि।
संताणंतर कज्जे परलोगो भे न पाउण।। ६८।।

संतानस्य न नाशः फलविरहात् पूर्वपूर्वविरहोऽपि।
संतानान्तरकार्ये परलोकः भवतां न प्राप्नोति।। ६८।।

सन्तान का नाश नहीं होता है, फलाभाव में
पूर्व-पूर्व फलविरह भी होता सिद्ध।
ज्ञान-प्रवाह संतान बिना यदि माने कार्य
तो परलोक ही हो जाय असिद्ध।। ६८।।

६८. (नैयायिकाभिमत मोक्ष का निराकरण करने के बाद माध्यमिक बौद्धाभिमत निर्वाण का निरसन करते हैं) फलाभाव से ज्ञान प्रवाह परम्परा का (संतान का) नाश नहीं होता है (यदि ऐसा मानते हैं) तो पूर्व-पूर्व क्षणवर्ती क्रिया में फलाभाव प्राप्त (का प्रसंग उपस्थित) होगा, तथा यदि (आपके मतानुसार) ज्ञान प्रवाह परम्परा के बिना कार्य होना मानते हैं तो परलोक प्राप्त (की सिद्धि) नहीं होता है।

भावार्थ : तात्पर्य यह है कि ज्ञान सन्तान के नाश को ही यदि मोक्ष मानते हैं तो ऐसा मानने से दोष आता है क्योंकि सन्तान का कभी नाश नहीं होता है। फल (अन्त्य क्षण उत्तर क्षण का जन्म रूप फल है) के अभाव से पूर्व-पूर्व क्षण में भी यह दोष आएगा। यदि सन्तान के न होने पर भी कार्य होना माना जाएगा, तो भी आपके मत में परलोक प्राप्त नहीं होने का प्रसंग उपस्थित होगा अर्थात् उसकी सिद्धि नहीं होगी। इस गाथा में शास्त्रकार बौद्ध क्षणिकवाद का निरसन करते हैं।

Santāṇassa na nāso phalavirahā puvvapuvvavirahovi /
Santāṇantara kajje paralogo bhe na pāuṇa // 98 //

Santānasya na nāśaḥ phalavirahāt pūrvapūrvaviraho'pi /
Santānāntarakārye paralokaḥ bhavatāṁ na prāpnoti // 98 //

If in the absence of result, too, progeny is not destroyed,
it proves the absence of result in earlier moments, too |
If the work is done without progeny,
the afterlife remains unproved, too || 98 ||

98. If we take the argument that the knowledge–stream progeny is not destroyed in the bsence of result, we have to admit that the same absence of result is proved in the earlier moments as well. Also, if we take it that the work is done without the knowledge stream progeny, we have to admit that there is no afterlife.

In this verse the author demolishes the arguments of the *Mādhyamika* Buddhists' theory of momentariness or *Kṣaṇikavāda*. The concept of liberation by the destruction of the knowledge–stream progeny (*santāna*) is flawed, because the progeny is never destroyed; if we accept the absence of result (one moment is the result of the previous moment), it proves the same absence in the earlier moments as well. And, finally, if we accept accomplishment without the knowledge–stream progeny, it disproves the very existence of afterlife.

वत्थुसहावो एसो

देहतिभागूणजीवमाणेण।

ईसीपब्भाराए उप्पिं

ओगाहिया सिद्धा।। ६६।।

वस्तुस्वभावः एषः देहत्रिभागूनजीवमानेन।

ईषत्प्राग्भाराया उपरिष्टादवगाढाः सिद्धाः।। ६६।।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी पर रहते हैं सिद्ध-बुद्ध,

जहाँ है केवल मुक्त-भाव।

अंतिम शरीर से त्रिभागन्यून आत्मप्रदेशों में,

मुक्तात्मवस्तु का ऐसा स्वभाव।। ६६।।

६६. (अपने अंतिम) शरीर के तीसरे भाग न्यून (दो-तिहाई आकार वाले)[1] आत्मप्रदेशों में ईषत्प्राग्भारा नामक सिद्धशिला पर सिद्ध रहते हैं, यह मुक्तत्मा का स्वभाव (लक्षण) है।

भावार्थ : मुक्तात्मा (सिद्धात्मा या सिद्ध) का यह लक्षण है कि वे (अपने अंतिम) शरीर से तीसरा भाग न्यून आत्मप्रदेशों के प्रमाण से ईषत्प्राग्भारा नामक सिद्धशिला के ऊपर रहती है।

---

[1] १ - १/३ = २/३.

Vatthusahāvo eso

dehatibhāgūṇajīvamāṇeṇa /

Īsīpabbharāe uppiṁ

ogāhiyā siddhā // 99 //

Vastusvabhāvaḥ eṣaḥ

dehatribhagena ūnaṁ jīvamānaṁ /

Īṣatprāgbhārāyā uparim

avagāḍhāḥ siddhāḥ // 99 //

Over the Īṣatprāgbhārā land, live the Siddhas,

with two☼thirds of last body–stature |

This is the attribute of the liberated soul,

and, naturally, its nature || 99 ||

99. It is the nature and the attribute of the liberated soul or *Siddhātmā* that it lives over the 'Rock of the liberated souls (*Siddhaśilā*)', called the *Īṣatprāgbhārā pṛthvī*. There the dimensions (space occupied by the soul) of their soul–parts are a third lesser (two thirds : 1 – 1/3 = 2/3) of the dimensions of the body last occupied by that soul.

जदणंतनेयनाणी जीवो
कम्मेहिं वेढिओ न तहा।
ता कम्मक्खयभावे
अणंतनाणीणो सया सिद्धा।। १००।।

यदनन्तज्ञेयज्ञानी जीवः
कर्मभिः वेष्टितः न तथा।
तस्मात्कर्मक्षयभावे
अनन्तज्ञानिनः सदा सिद्धाः।। १००।।

कर्म रहते अनन्त ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता भी
अनन्तज्ञानी नहीं होता सर्वज्ञ।
कर्मक्षय होने पर तो हो जाता है अनन्तज्ञानी
और सिद्ध वह सर्वज्ञ।। १००।।

१००. जिस कारण से अनन्तज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता (जानने वाला संसारी आत्मा) कर्मों से आवृत्त होने से अनन्तज्ञानी नहीं कहलाता है, और उसी कारण से उन कर्मों के क्षय होजाने पर (वह) अनन्तज्ञानी (भी होता है तथा) सिद्ध हो जाता है, अर्थात् कर्म क्षय के कारण सिद्धात्मा सदैव अनन्तज्ञानी होते हैं।

Jadaṇantaneyanāṇī jīvo

kammehiṁ veḍhio na tahā |

Tā kammakkhayabhāve

aṇantanāṇīṇo sayā siddhā || 100 ||

Yadanantajñeyajñānī jīvaḥ

karmābhiḥ veṣṭitaḥ na tathā |

Tasmātkarmakṣayabhāve

anantajñāninaḥ sadā siddhāḥ || 100 ||

The knower of infinite substances is not

with infinite knowledge if karma remains |

On irresidual karma destruction,

the soul liberates, nothing remains || 100 ||

100. For the reason that a karma encumbered soul cannot be said to be the possessor of infinite knowledge even if he knows infinite knowledge worthy substances, he gains the infinite knowledge and liberates when the karmic encumbrance is irresidually destroyed.

Here, the author distinguishes between omniscience and infinite knowledge and says that a soul can be said to be in the possession of infinite knowledge only when it completely destroys its karmic bondages.

उपसंहार

इय भावणासमेओ सम्मदिट्ठी न इत्थ संदेहो।
इत्तुच्चिय लिंगमिणं अव्वहिचारी ससज्झेणं ।। १०१।।

इति भावनासमेतः सम्यग्दृष्टिः न अत्र संदेहः।
अतएव लिंगमिदं अव्यभिचारी तु स्वसाध्येन ।। १०१।।

निससंदेह इन भावनाओं वाला साधक है
सम्यग्दृष्टि, विगत मिथ्यात्व बन्ध।
अतएव इस सम्यक्त्व-लिंग का स्वसाध्य से
अविनाभावी है सम्बन्ध।। १०१।।

१०१. इस प्रकार उपर्युक्त सम्यक्त्वलिंगों की भावना से युक्त (अर्थात् जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कहे गए जीव, अजीव, आस्रव, संवर, पुण्य, पाप, बन्ध, निर्जरा व मोक्ष इन नौ तत्त्वार्थों में आस्तिक्य बुद्धि सम्पन्न आत्मा निस्संदेह सम्यग्दृष्टि होता है। अतः ये (सम्यक्त्व) लिंग अपने साध्य (सम्यक्त्व) से अव्यभिचारी रूप (अविनाभाव) से (उस सम्यग्दृष्टि में) रहते ही है।

भावार्थ : इस प्रकार की भावना सम्पन्न आत्मा निससंदेह सम्यग्दृष्टि है, अतः यह आस्तिक्य लिंग अपने साध्य से अव्यभिचारी है।

(इति आस्तिक्यलिंगम्) (इति पंचलिंगीप्रकरणम्)

CONCLUSION

Iya bhavaṇāsameo sammadiṭṭhī
na ittha sandeho /
Ittucciya liṅgamiṇaṁ
avvahicārī sasajjheṇaṁ // 101 //

Iti bhāvanāsametaḥ samyagdṛṣṭiḥ
na atra sandehaḥ /
Ataeva liṅgamidaṁ
avyabhicārī tu svasādhyena // 101 //

A soul with such volitional disposition is,
undoubtedly rightly inclined |
This sign of belief and right–vision are,
inseparably intertwined || 101 ||

101. Concluding this treatise on the five signs of right–vision, the author says that these five signs of right–vision, indicated by a firm belief in the existence of nine elements – the living, the non–living, karmic influx, stoppage, merit, demerit, bondage, separation and freedom are inseparably intertwined with their object – right–vision. Therefore, they are not contraindicated in that context.

(THE FIFTH SIGN AND PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ CONCLUDED)

पंचलिंगीप्रकरणम्

PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ

परिशिष्ट

APPENDICES

1- लिप्यान्तरण परिपाटी / Transliteration Convention

2. गाथानुक्रमणिका

3. पारिभाषिक शब्दावली

卐

1. Alphabetical Order of Verses

2. Selected Glossary

3- संदर्भग्रंथसूचि / Bibliography

पंचलिंगीप्रकरणम्

PAÑCALIṄGĪPRAKARAṆAṀ

लिप्यान्तरण परिपाटी

TRANSLITERATION CONVENTION

अ	A, a	क	KA, ka	त	TA, ta
आ	Ā, ā	ख	KHA, kha	थ	THA, tha
इ	I, i	ग	GA, ga	द	DA, da
ई	Ī, ī	घ	GHA, gha	ध	DHA, dha
उ	U, u	ङ	Ṅ A, ṅa	न	NA, na
ऊ	Ū, ū	च	CA, ca	प	PA, pa
ए	E, e	छ	CHA, cha	फ	PHA, pha
ऐ	AI, ai	ज	JA, ja	ब	BA, ba
ओ	O, o	झ	JHA, jha	भ	BHA, bha
औ	AU, au	ञ	Ñ A, ña	म	MA, ma
अं	AṀ,aṁ	ट	Ṭ A, ṭa	य	YA, ya
अः	AḤ, aḥ	ठ	Ṭ HA, ṭha	र	RA, ra
ऋ	Ṛ, ṛ	ड	Ḍ A, ḍa	ल	LA, la
ऌ	Ḷ, ḷ	ढ	Ḍ HA, ḍha	व	VA, va
		ण	Ṇ A, ṇa	श	Ś A, śa

श्र	ŚRA, śra			ष	ṢA, ṣa
क्	K, k, etc.			स	SA, sa
				क्ष	KṢA, kṣa
				त्र	TRA, tra
				ज्ञ	JÑA, jña

卐

2.
गाथानुक्रमणिका

अकयागमकयनासो, ७६, १५४.
अक्खमकिलेससाहण, २२, ४४.
अच्छिनिमिलियमित्तं, ३६, ७०.
अतत्तरुइरूवं मिच्छत्तस्स, ७, १६
अन्नेसिं पव्वत्तीए, ६१, १२०.
अप्पियसमागमुब्भव, ४१, ८०.
अवायसुंदरावि हु, १५, ३०.
इइ किरियाए भाव, ३२, ६२.
इइ भावणासमेओ, २७, ५२.
इइ भावणासमेओ, ५२, १०२
इत्तो च्चिय संलत्तं, ४६, ६०.
इत्तो च्चिय हलसय, ७०, १३६.
इत्तो जमालिगुट्ठामाहिल, ६, १८.
इय भावणासमेओ, १०१, १६८.
इय सव्वत्थ असरणं, ४८, ६४.
इह पुण्णपावपभवा, ८१, १५८.
इह सत्तागाराइ कहं, ७६, १४८.
उवसम संवेगो वि य १, ४.
एत्तो च्चिय अत्थि, ८६, १७४.
एयाहिंतो बुद्धा विर-, ५६, ११६
एवमणंतो जीवो मि-, ३५, ६८.
एवं विहपरिणामो, ७७, १५०.
कइया होहि सो वास, २५, ४८.
काऊण पुत्थयाइ, ६६, १२८.
कारेमि बिंबममलं, ५७, ११२.
गिहमागयाणमुच्चियं, ७५, १४६.
गिहिदिसिबन्धो तह, ११, २४.
गुणरागिणो जणा खलु,६७, १२८
चउवीससंतिकम्मी, ३, ८.
चरित्तपक्खवाया अप्प, २८, ५४.
चाणक्क पंचतंतय, ७१, १३८.
चिंतासंतावेहि य, ४२, ८२.
चेइयजइसु वज्जुज्जइ, ३१, ६०.
छद्दरिसणतक्कविआ, ६४, १२६.
जइ पुग्गला न हुज्जा,८५, १६६
जइ हुज्जइ गुणा वि, १६, ३८.
जइ हुज्ज न तव्वयणं,६०, १७४
जदनंतनेयनाणी, १००, १६६.
जावज्जीवमणंता, ६, १२.
जिणवयणामयसुइसंग,६२, १२२.
जिणवयणं साहंति, ६३, १२४.
तदणाइसिद्धजोगो, ६४, १८४.
तवसा उ निज्जरा इह,६२, १८०
तव्वइरित्तो धम्मा-, ८४, १६४.
तस्सुवसमो उ लिंगं, ८, १८.
तह जोइसत्थकंडाइ, ७२, १४०.

ता अलमिमेहिं मज्झ, २१, ४२.
ता ताण कए दुक्ख, १७ ३४.
ता देवमणुयनारय, ४५, ८८.
ता नियवक्खनिरागा-,६६, १८८.
ता सुत्तुत्तविउत्ता, १०, २२.
तो अणुकम्पपरेण, ७३, १४२.
तो जत्थजत्थ साव-, ४६, ६६.
तो नरय वेयणाओ, १८, ३६.
तं सुरविमाणविहवं, ४४, ८६.
दाणं न होइ विहलं, ७४, १४४.
दुक्खं नरयसमाणं, ३६, ७४.
देवोवि पुढविकाए, ४३, ८४.
धी धी मज्झ अणज्ज, २६, ५०.
नरयाओ उव्वट्टो ति-, ३८, ७४.
नायाज्जियवित्तेणं, ५६, ११०.
नियसहसवेण हया, ५४, १०६.
नियआवही न हुज्जा, ६७, १६०.
पइजंतुभेयं भ्निनो, ८२, १६०.
पइभाइगुणजुयाण, ६५, १२८.
पक्खबउम्मासवच्छर, ५, १२
पाणच्चयेवि न कुणइ, २६, ५६.
पाणवहाइहिंतो सुहा-,८८, १७२.
पावट्ठाणेहिंतो विरइ, ६१, १७८.
पिहियासवा तवड्ढा, २४, ४६.
पुढवाइयाण जइ वि, ५८, ११४.
बहुसो अणाइसंसार, ३४, ६६.
बालोहधूलिगिहिरमण, ४७, ६२.
मन्नइ जयम्मि धन्ने, ५०, ६८.
मिच्छत्ताइनिमित्तो बंधो,६३, १८२
मिच्छाभिनिवेसस्स उ, २, ६.
मोक्खस्स सुहं ता, २३, ४४.
रोगीसिरावेहो इव, ६०, ११८.
वज्जइ पयडी नेव य,६५, १८६.
वत्थुसहावो एसो, ६६, १६४.
ववहारहेउ लिंगं, ४, १०.
वावीकूवतड़ागाइगोयरं,६८, १३२.
वाहिसयविहुरियंगो, ४०, ७८.
विसयासासंदामियचित्तो, २०, ४०.
सढयाए समाइन्नं, १२, २४.
सढयाइ पक्खसाणजुत्ति,१३, २६.
सम्मदिट्ठी जीवो, १४, २८.
सम्मदिट्ठी जीवो, ५३, १०४.
सम्मदिट्ठी जीवो भव, ३३, ६४.
सम्मदिट्ठी जीवो जइ-,७८, १५२
सव्वाणुकम्पगस्स उ, ६६, १३४.
सागरमेगं ति य सत्त, ३७, ७२.
सुहदुहरूवो नियमेण, ८७, १७०.
सुहपयडीओ पुण्णं, ८६, १६८.
सो वि य संकोय-, ८३, १६२.
सो सव्वविरइ आरा, ५१, १००.
संताणस्स न नासो, ६८, १६२.
संताणो उ अवत्थू, ८०, १५६.
संसारदुक्खमोक्खण, ५५, १०८.
संसारियब्भुदये न, ३०, ५८.
हा धी विलीणवीभस्स, १६, ३२.

卐

चयनित शब्दावली

अबद्ध – कर्मबंध रहित

अभय – भयरहित

अभ्युद्धत – सन्नद्ध, कार्य करने के लिये तैयार

अचेतन – चेतनारहित, अजीव

अधर्म (अधर्मास्तिकाय) – स्थैर्य का माध्यम या एण्टीईथर

अहर्निश – रात-दिन

अहेतुक – अकारण

अजीव – जड़-अचेतन पदार्थ; जैन दर्शन का दूसरा तत्त्व

अकृत – जो अभी तक किया नहीं गया हो

अक्षि – ऑंख

अलंकार – साहित्य व कावय में भाषा सौष्ठव के लिये प्रयुक्त शब्द

अमृत – ऐसा द्रव्य जिसे पीने से व्यक्ति अमर हो जाता है

अंकन – दागना

अणगार चारित्र – मुनिचर्या

अनाचीर्ण – हीन कर्म जो आचरणीय न हो

अनादि – जिसका प्रारंभ न हो

अनागत – जो अभी आया न हो, भूतकाल

अनन्त – जिसका अंत न हो, शाश्वत

अनर्थ – अपराध, हित के प्रतिकूल

अनार्य – नीच

अनिष्ट – अवांछित

अनित्य – नाशवान

अनुदय – कर्म का उदय में नहीं आना

अनुकम्पा – दया, करुणा, सहानुभूति, संवेदना

अपात्र – अयोग्य

अपवाद – नियमविरुद्ध

अप्काय – ऐसे जीव जिनकी काया जल हो

अप्रिय – जो अच्छा न लगे

अर्जन – कमाई

अर्थ – मतलब, व्याख्या; रुप्या-पैसा

अर्थकाण्ड – अर्थशास्त्र

अर्थशुद्धि – सही व्याख्या, विशेषकर धर्मग्रंथों की

अशरण - जिसको कोई शरण (बचाने वाला) न हो

असदनुष्ठान - बुराकार्य, बुरे कर्मकाण्ड

असद्ग्रह - गलत समझना

अशुभ - जो शुभ न हो, अमंगल

अतत्त्वरुचि - जिसकी रुचि तत्त्व में न होकर अतत्त्व में हो

अतिचार - व्रत में लगे दोष जिनका परिहार संभव हो

अतिथ - ऐसा मेहमान जिसका आगमन बिना पूर्वसूचना के हो

अवस्तु - असत्, जिसकी सत्ता न हो

अविरत - जो सांसारिक भोगों से विरत न हुआ हो

आरंभ - किसी सावद्यकार्य की शुरुआत

आस्तिक्यजिनप्रतिपादित सिद्धांतों में दृढ़ श्रद्धा

आचार्य - मुनिसंघ का प्रमुख

आगम - आप्तपुरुषों के उपदेशों का सूत्रबद्ध संकलन, जैन धर्मशास्त्र

आगत - जो आ गया हो, वर्तमान

आहार - भोजन

आकाश - सबको अवकाश (जगह) देने वाला अनंत क्षैत्रावगाही पदार्थ जिसमें सब जीवाजीव रहते व संचरण करते हैं

आलोचना - अपने कृत दोषों को गुरु के समक्ष स्वीकार करना व उनकी आलोचना करना

आसक्ति - गहरा लगाव

आस्रव - कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेश में आना

आत्मा - अरूपी जीवतत्त्व

आर्य - श्रेष्ठ

इंद्रिय - वे अंग-प्रत्यंग जिनसे भान होता है

इष्ट - वांछित

इषुकला - धनुर्विद्या

उदय - कर्म का फल देने लगना

उद्विग्न - चिंताग्रस्त

उद्यम - कर्म करना

उपादेय - करने योग्य, ग्रहण करने योग्य

उपधान - किसी कार्य विशेष के लिये किया जाने वाला विशेष अनुष्ठान

उपाध्याय - अध्यापक, तृतीय परमेष्टि

उपशम - अस्थाई शांति

उपासक - गृहस्थ अनुयाई

उत्सर्ग - त्याग, लिये हुए व्रतों का

अपवादरहित व निरतिचार पालन

ऊन – न्यून, कम

औषध – दवा

कर्म – १. कार्य, २. कर्मपुद्गल वर्गणा के कण, ३. आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मपुद्गल

कर्ममुक्ति – आत्मा का कर्म-पदार्थ से सर्वथा मुक्त हो जाना

कर्ता – कार्य करने वाला

कषाय – क्रोध, मान, माया व लोभ की भावनाएँ

काव्य – छंदबद्ध साहित्यिक रचना

काया – शरीर

कुल – खानदान

कूप – कुंवा

कुतीर्थ – मिथ्याधर्म

केवली – जिसे परमविशुद्ध केवलज्ञान हो गया हो, सर्वज्ञ

केवलज्ञान – घतियाकर्मों के षय हो जाने पर प्राप्त परमशुद्ध ज्ञान या सर्वज्ञता

कृत – किया हुवा

क्षुधा – भूख

गीतार्थ – धर्मशास्त्रज्ञ

गोधन – पशुधन

गृह – घर, मकान, आगार

गुण – विशेषता

चाणक्य – प्राचीनकाल का एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री

चैत्य – ऐसा स्थान जहाँ चेतना जागृत होती है

चक्रवर्ती (चक्री) – षट्खण्डाधिपति, राजाधिराज

चारित्र – नियमबद्ध चर्या, साधुचर्या

चेतन – जीव

चिकित्सा – रोगी का इलाज

चिंता – फिक्र

चित्त – अन्तःकरण

च्यवन – देवायु पूर्णकर वहाँ से पुनर्जन्म के लिये प्रस्थान

च्युत – जिसका च्यवन हुआ हो

छन्द – मात्रिक काव्यकृति

जाति – सामूहिक पहचान

जिनबिम्ब – जिनेश्वरदेव की प्रतिमा

जीव – चेतन द्रव्य, जैन-दर्शन का पहला तत्त्व

जिनशासन – जिनेश्वरदेव के यतुर्विध अनुयाईयों का समूह

ज्योतिष – आकाशीय पिण्डों की गति का विज्ञान, (ग्रहों की गति के मनुष्य के भाग्य पर प्रभाव

का शास्त्र फलित ज्योतिष है)

तड़ाग - सरोवर

तप - कर्मनिर्जरा हेतु की जाने वाली क्रियाएँ

तिरस्कार - अपमान, अवमानना, हीलना

तिर्यंच - देव, मनुष्य व नारकों से इतर जीव जगत

तुरग - अश्व

तीर्थंकर - संसारसागर से पारलगाने के लिये तीर्थ (तीर या किनारे) की स्थापना करने वाले जिनेश्वर- देव

तेजस्काय - अग्नि जिनकी काया हो ऐसे जीव

त्रसकाय - चर जीवजगत

तृष्णा - सांसारिक भोगों की इच्छा

त्रिभाग - तीसरा भाग, एक तिहाई

दमन - दबाना

दलित - दमन किया गया

दान - स्वेच्छा से अपनी वस्तु को परोपकार की भावना से दूसरों को देना

दारादि - पत्नी आदि परिवार

दारिद्र्य - गरीबी, दद्रिता, साधनहीनता

दुःख - क्लेश

दुष्टभाषा - असत्य व असम्यक भाषा

दुष्प्रयुक्त - हीनकर्म में नियुक्त

देव - स्वर्गलोक का वासी

देवलोक - देवों के निवास का लोक, ऊर्ध्वलोक

देवसुत - बौद्ध क्षणिकवादी

देवविमान - तारादि आकाशीय पिण्ड

देहव्यापक - शरीरभर में व्याप्त

देशव्रती/देशयति - जिसनें श्रावक के बारह व्रतों में से एकाधिक व्रत ग्रहण किये हों

देवेन्द्र - देवाधीश

दोष - नियमविरुद्ध

द्रव्य - जीव व अजीव

द्वेष - विमुखता, विरुचि

धन - संपत्ति

धर्म - कर्तव्य को करना व अकर्तव्य को छोड़ना

धर्म (धर्मास्तिकाय) - गति का माध्यम, ईथर

धीर - धैर्यवान्

धूलिगृह - रेत का घरोंदा

धृति - धैर्य

ध्यान - एकाग्रचित्तता

नय - किसी एक पक्ष का निरूपण

नरक - अधोलोक में ऐसी जगह

जहाँ पापी अपना अशुभ कर्मफल भोगते हैं

नारक – नरक में अपने कर्मों का फल भोगने वाले जीव

नाटक – ड्रामा

निःशेष – संपूर्ण

निह्नव – अपलापी

निमित्त – कसी कार्य के होने का माध्यम

निर्वद्य – अहिंसक

निर्जरा – अलग होना

निर्वाण – कर्ममोक्ष के पश्चात् सिद्धत्व प्राप्ति

निर्वेद – संसार से विरक्ति

निश्चय नय – वस्तु के किसी एक पक्ष का आत्मसापेक्ष्य विवरण

न्याय – तर्कशास्त्र; नियमानुकूल निर्णय

पदार्थ – वस्तु (जैन-दर्शन सम्मत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, व काल)

परमार्थ – सर्वोच्च कार्य

परलोक – जन्मान्तर में प्राप्त होने वाला लोक

परिग्रह – आसक्तियुक्त धन-संपदा

पल्योपम – असंख्यात् काल का (गड्ढे के उदाहरण से) एक अनुमान

पाप – बुरे कार्यों से होने वाला अशुभकर्मबंध

पंचतंत्र – आचार्य विष्णु शर्मा द्वारा रचित पशुकथाओं का संग्रह जिसमें नीति की शिक्षएँ दी गई हैं

परिजन – सगे संबंधी व आश्रित जन

परिणमन – परिवर्तन

परिणाम – फल, भाव

पश्चाताप – दोषपूर्ण कार्य होने पर ग्लानि का भाव

पात्र – योग्य; बर्तन

पिपासा – प्यास

पिहितास्रव – आस्रवनिरुद्ध

पुण्य – अच्छे कार्यों के फलस्वरूप होने वाला शुभकर्मबंध

पुद्गल – साकार द्रव्य

पोत – जलयान

प्रतिभा – योग्यता, क्षमता

प्रत्याख्यान – त्यागने का व्रत लेना

प्रशस्त – प्रशंसनीय

प्राण – जान, जीवन्तता

प्रायश्चित्त – दोष रिमार्जन की क्रिया

पृथ्वी – धरा

पृथ्वीकाय – ऐसे जीव जिनका

शरीर पृथ्वी हो

फल – परिणाम

बलदेव – महान पराक्रमी त्रिषष्टी शलाकापुरुषों में गण्य महापुरुष

बहुमान – मान-सम्मान करना

बाल – प्रज्ञाहीन

बीभत्स – घृणित

बुद्ध – आत्मज्ञानी

बंध – बंधन (यहाँ कर्मबंध)

भव्य – अंततः मुक्तियोग्य जीव

भाव – अंतर्मनस्थिति

भावना – अवाक् स्मरण, चिंतन, विचारसरणी

भूत – प्राणी

भैषज्य – आयुर्वेद चिकित्सा

भोक्ता – कृत कर्म को भोगने वाला

मन – मनस्, मस्तिष्क

मानस – इरादा

मार्ग – रास्ता, मुक्तिमार्ग

मिथ्यात्व – गलत दृष्टिकोण का होना

मिथ्यादर्शन – गलत दृष्टिकोण

मिथ्यादृष्टि – जिसका दृष्टिकोण मिथ्या हो

मिथ्याभिनिवेश – असत्य विश्वास

मुक्तात्मा – कर्ममुक्त जीव

मुद्गर – भारी डंडा, गदा

मुनि – मौनसाधक, साधु

मोक्ष – निःशेष कर्ममुक्ति

मोह – राग-द्वेष से होने वाला दृष्टिविभ्रम

यति – साधु

रत – सांसारिक भोग-विलास में निमग्न

रत्नत्रय – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी

रमण – भोग-विलास में आनंदित होना

राग – लगाव

लिंग – चिह्न, संकेतक

वचन – बोलने की क्षमता

वध – मारना, पीटना, ताड़ना

वनस्पतिकाय – ऐसे प्राणी जिनका शरीर वनस्पति हो

वसति – साधुओं के रहने के लिये उपाश्रय

वासर – दिन

वायुकाय – ऐसे प्राणी जिनका शरीर वायु हो

विकास – फैलना

विज्ञानक्षण – वह क्षण जिसमें पिछले क्षण का ज्ञान हो

वित्त – रुपया-पैसा

विनय – स्वाभाविक विनम्रता, चर्या

विपाक – कर्म का मिलने वाला फल

विरत – त्यागी

विलीन – मल-मूत्रादि प्रवाह

विशेष – असामान्य

विषय – भोग-विलास

विहार – साधुओ की ग्रामानुग्राम धर्मयात्रा

वेदन – अनुभूति

वेदना – दर्द, पीड़ा

वैद्यक – चिकित्साशास्त्र

व्रत – प्रतिज्ञा

व्रती – व्रतों का पालन करने वाला

व्यभिचार – स्खलना

व्यभिचारी – स्खलित

व्यवहार – प्रथा, व्यापार

व्यवहार नय – व्यवहार दृष्टि से वस्तु के किसी एक पक्ष का निरूपण

व्याकरण – भाषानुशासन

व्याधि – रोग

शैलेशी – निर्वाण से ईक पहले आत्मा की निष्कम्प अवस्था जिसमें कोई कर्म नहीं होता है

शकट – गाड़ी

शाश्वत – सदा के लिये, सनातन

शठता – दुष्टता

शौकरिक – शूकरबधिक

शयनासन – पीठफलक

शिरावेध – शल्यक्रिया

शुभ – मंगलमय

श्रावक – गृहस्थ अनुयाई, उपासक

श्रुति – श्रुतज्ञान का भाग

षड्दर्शन – छः भारतीय धर्म-दर्शन

सत्त्व – जीव

सत्रागार – दानशाला

सदनुष्ठान – अच्छे कार्य-कलाप

समय – सिद्धांत; कालाणु

समता – सभी परिस्थितियों में मनस्थिति का सम रहना

समाधि – सम मनस्थिति में ध्यान का लगना जिसमें शांति व नीरवता हो

सम्यक्चारित्र – जिनप्रतिपादित मुनि या गृहस्थचर्या

सम्यक्त्व – सम्यग्दर्शन युक्त होने की स्थिति

सम्यग्ज्ञान – वास्तविक ज्ञान

सम्यग्दर्शन – सही दृष्टिकोण

सम्यग्दृष्टि – सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव

सर्वविरति – सभी प्रकार के

सावद्यकर्म से विरत होना, श्रमण चारित्र ग्रहण करना

सागरोपम – असंख्यातकाल का (सागरसम अति विस्तीर्ण) अनुमान; इसका मान $१०^{१५}$ (दशक्रोड़ाक्रोड़ी) पल्योपम तुल्य है

सागार चारित्र – गृहस्थधर्मचर्या

सामान्य – अविशेष

सावद्य – हिंसक

सास्वादन – अवशेष स्वाद की स्थिति

सिद्धान्त – धर्म के नीतिनियम

सुदृष्टि – सम्यग्दृष्टि

सुख – मन को भाने वाली अनुभूति

सुपात्र – सुयोग्य

सूत्र – धर्मग्रंथ, उनका एक सूत्र

संकोच – सिकोड़ना

संग्राम – युद्ध

संतान – संतति

संताप – दुःख

संवर – कर्मास्रवनिरोध

संविग्न – संवेग प्राप्त

संवेग – मोक्ष की तीव्र अभिलाषा

स्त्रीबंधक – ऐसे कर्म जिनसे स्त्री के रूप में पुनर्जन्म लेना पड़े

स्थावरकाय – अचलजीवाराशि

स्फोट – विस्फोट, टूटकर बिखरना

स्वजन – परिवार के सदस्य

स्वभाव – स्वप्रकृति

स्वरूप – आकृति

स्वर्ग – देवताओं का निवास की भूमियाँ

हर्ष – प्रसन्नता

हल – भूमि जोतने का कृषियंत्र

हस्ति – हाथी

हीन – निकृष्ट

हेमयुक्ति – धातुवेध

हेय – त्याज्य

卐

ALPHABETICAL ORDER OF VERSES

Acchinimiliyamittaṁ, 36, 71.
Akaỹgamakayanāso, 79, 155.
Akkhamakilesasāhaṇa, 22, 45.
Annesiṁ pavvattīe, 61, 121.
Appiyasamāgamubbha, 41, 81.
Atattaruirūvaṁ, 7, 17.
Avāyasundarāvi hu, 15, 31.
Bahuso aṇāisaṁsāra, 34, 67.
Bālohadhūligihiramaṇa, 47, 92
Cāṇakka Pañcatantay, 71, 139.
Carittapakkhavāyā, 28, 55.
Cauvīsasantikammi, 3, 9.
Ceiyajaisu vajjujjai, 31, 61.
Chaddarisaṇatakkaviā, 64, 127.
Cintāsantāvehi ya, 42, 83.
Daṇaṁ na hoi vihala, 74, 145
Devovi puḍavikāe, 43, 85.
Dhī dhī majjha aṇajja, 26, 51.
Dukkhaṁ narayasamā, 39, 75.
Etto cciya atthi phu–, 89, 175.
Evaṁ vihapariṇāmo, 77, 151.
Evamaṇanto jīvo mi–, 35, 69.
Eyāhinto Buddhā, 59, 117.
Gihamāgayāṇamuciya, 75, 147.
Guṇarāgiṇo jaṇā kha–, 67, 129
Hā dhī vilīṇavibhassa, 16, 33.
Iha puṇṇapāvapabhav, 81, 159
Iha sattāgārāi kahaṁ, 76, 149.
Ii bhāvaṇāsameo, 27, 53.
Ii bhavaṇāsameo, 52, 103.
Ii kiriyāe ii bhāvasaṅg, 32, 63.
Itto cciya halasaya, 70, 137.
Itto ciya saṁlattaṁ, 46, 91.
Itto Jamāliguṭṭhāmahil, 9, 19.
Iya bhāvaṇāsameo, 101, 199.
Iya savvattha asaraṇa, 48, 95.
Jadanantaneyanāṇī, 100, 197.
Jai hujjai guṇā visayā, 19, 38.
Jai hujja na tavvaya–, 90, 175. Jai puggalā na hujjā, 85, 167.
Jāvajjīvamaṇantā, 6, 13.
Jiṇavayaṇaṁ sāhanti, 63, 125.
Jiṇavayaṇāmayasui, 62, 123.
Kaiyā hohi so vāsarutti, 25, 49.
Kāremi bimbamamala, 57, 113
Kāūṇa putthayāI, 66, 129.
Mannai jayammi dhann, 50, 99
Micchābhinivesassa u, 2, 7.
Micchattāinimitto, 93, 183.

Mokkhassa suhaṁ tā, 23, 45.
Narayāo uvvaṭṭo tirio, 38, 75.
Nāyājjiyavitteṇaṁ, 56, 111.
Niyayavahī na hujjā, 97, 191.
Niyayasahāveṇa hayā, 54, 107.
Paibhāiguṇajuyāṇa 65, 129.
Paijantubheyam bhinn, 82, 161
Pakkhacaummāsavacch, 5, 13.
Pāṇavahāihinto suhā–, 88, 173.
Pāvaṭṭhānehinto virai, 91, 179.
Pihiyāsavā tavaḍḍhā, 24, 47.
Puḍhavāiyāṇa jai vi, 58, 115.
Rogisirāveho iva, 60, 119.
Saḍhayāe samāinnaṁ, 12, 25.
Saḍhayāi pakkhasāhaṇa, 13 27.
Saṁsāradukkhamo–, 55, 109.
Saṁsāriyaabbhudaye, 30, 59
Sammadiṭṭhī jīvo bhav, 33, 65.
Sammadiṭṭhī jīvo jai–, 78, 153.
Sammadiṭṭhī jīvo, 53, 105.
Sammadiṭṭhī jīvo, 14, 29.
Santāṇassa na nāso, 98, 193.
Santāṇo u avatthū, 80, 157.
Savvāṇukampagassa, 69,135.
Sāgaramegaṁ ti ya, 37, 73.
So savvavirai arā, 51, 101.
So vi ya saṅkoyavi–, 83, 163.
Suhapayaḍīo puṇṇaṁ, 86, 169.
Suhaduharūvo niya–, 87, 171.
Tadaṇāisiddhajogo, 94, 185.
Taha joisatthakaṇḍāī, 72, 141.
Taṁ suravimāṇavihava, 44, 87.
Tassauvasamo u liṅgaṁ, 8 19.
Tavasā u nijjarā iha, 92, 181.
Tavvairitto dhammā–, 84, 165.
Tā alamimehiṁ majjha, 21, 43.
Tā devamaṇuyanāraya, 45, 89.
Tā niyapakkhanirā–, 96, 189.
Tā suttuttaviuttā, 10, 23.
Tā tāṇa kae dukkhasay, 17, 35.
To aṇukampapreṇa, 73, 143.
To jattha jattha sāvajja, 49, 97.
To naraya veyaṇāo, 18, 37.
Uvasama saṁvego vi ya, 1, 5.
Vajjai payaḍī neva ya, 95, 187.
Vatthusahāvo eso, 99, 195.
Vavahāraheu liṅgaṁ, 4, 11.
Vāhisayavihuriyaṅgo, 40, 79.
Vāvīkūvataḍāgāi, 68, 133.
Visayāsāsaṁdāmiyacitt, 20, 41

卐

SELECTED GLOSSARY

Abaddha – Unbound.

Abhavya – Unliberatble.

Abhaya – Fearless.

Abhyuddhat – Ready to do something.

Acetana – Insentient.

Adharma (Adharmāstikāya) – Non–ether, medium of rest.

Aharniśa – Day and night.

Ahetuka – Without any reason.

Ajīva – Non–living thing, non–soul, insentient.

Akṛta – Undone.

Akṣi – Eye.

Alankāra – Embellishment.

Amṛta – Elixir.

Aṅkana – Marking, branding.

Aṇagāra Cāritra – Monastic conduct.

Anācīrṇa – Unworty of action.

Anādi – Beginningless.

Anāgata – Future.

Ananta – Endless, eternal.

Anartha – Against the interest.

Anārya – Ignoble.

Aniṣṭa – Undesirable.

Anitya ☼– Ineternal, transient.

Anudaya – Dormancy (of karma in the present context).

Anukampā – Compassion.

Apātra – Ineligible, undeserving.

Apavāda – Exception.

Apkāya – Water–bodied.

Apriya – Unpleasant.

Arjana – Earnings.

Artha – Meaning; interpretation, money.

Arthakāṇda – Economics.

Arthaśuddhi – Correct interpretation of text

specially that of scriptural text.

Aśaraṇa – Shelterless.

Asadanuṣṭhāna – Bad under–taking.

Asadgraha – False or incorrect understanding.

Aśubha – Inauspicious.

Atattvaruci – Interest in non–elements.

Aticāra – Flaws or excesses of right conduct.

Atithi – Guest who comes without prior information.

Auṣadha – Medicines.

Avastu – Nonentity.

Avirat – Unrestrained.

Ārambha – Commencement (of such activities, which result I violence towards the living beings).

Āstikya – Firm belief in nine elements of Jaina philosophy.

Ācārya – (Spiritual) Master; Head of a monastic order.

Āgama – Scriptures or Canonical works. Particularly, Jaina canonical works.

Āgata – Present.

Āhāra – Food.

Ākāśa – Space.

Ālocanā – Confession and criticism of own conduct flaws.

Āsakti – Attachment.

Āsana – Seat.

Āsrava – Influx (Karmic in the present context)

Ātmā – Soul, spirit.

Ārya – Noble.

Baddha – Bound.

Bahumāna – Great regard.

Baladeva – Great men with great spiritual and temporal powers.

Bandha – Bondage (of karmic bonds with the soul).

Bāla – The ignorant one who has the right view but does not practice the right–conduct or the one is at the Avirat Samyagdṛṣṭi stage of spiritual development.

Bībhatsa – Repulsive.

Bīja – Seed.

Bhaiṣajya – Treatment of ailments.

Bhāva – Mood.

Bhāvanā – Non–verbal repetition; Contemplation; Thought current.

Bhavya – Liberatable.

Bhaya – Fear.

Bhoktā – Enjoyer, sufferer.

Bhūta – Past; living being.

Buddha – Enlightened.

Cāṇakya – A famous political theorist and politi–cian of yore who was the Prime Minister of Candragupta Maurya.

Caitya – Place of worship, which makes one conscious of one's duties.

Cakrī / Cakravartī – King–emperor.

Cāritra – Conduct.

Cāritra – Monasticism.

Cetana – Sentient.

Chanda – Metre.

Cikitsā – Treatment of ailments.

Cintā – Worry.

Citta – The inner self.

Cyavana – Departure from heaven after completing the heavenly lifespan.

Cyut – Natural separation.

Dalita – Beaten, down trodden.

Damana – Crushing, harassment.

Dāna – Charity.

Dārādi – Wife, etc (family).

Dāridrya – Poverty.

Dehavyāpaka – Permeating the whole body.

Deśavratī – Part renounced, observer of one or more of householders' twelve vows.

Deśayati – Part renounced.

Deva – Heavenly god.

Devaloka – Abode of the gods.

Devasuta – The followers of the Buddhist precept of momentariness.

Devavimāna – Heavenly body.

Devendra – King of gods.

Dhana – Wealth.

Dharma – Faith, duty.

Dharma (Dharmāstikāya) – Ether, medium of motion.

Dhṛti – Patience.

Dhūligṛha – House of sand.

Dhyāna – Meditation.

Dhīra – Patient.

Doṣa – Flaw.

Dravya – Matter.

Duḥkha – Sorrow, misery.

Duṣprayukta – Misemployed.

Duṣṭabhāṣā – Foul and flawed speech.

Dveṣa – Aversion.

Gītārtha – Master or preceptor highly learned in scriptural or canonical knowledge.

Godhan – Animal wealth.

Gṛha – House, home.

Guṇa – Quality or virtue.

Hala – Plough.

Harṣa – Happiness.

Hasti – Elephant.

Hemayukti – Metallurgy.

Heya – Unworthy, worth giving up, unacceptable.

Hīna – Lowly.

Indriya – Sensory organ.

Iṣṭa – Desirable.

Iṣukalā – Archery.

Jāti – Caste.

Jina–bimba – Jina idol, Jina image, Jina statue.

Jīva – Living being, soul, sentient.

Jina–śāsana – The religio–social order of the followers of Lord Jina.

Jyotiṣa – Astronomy and astrology.

Kāla – Time.

Kālamāna – Period.

Kāmandaka – A political theorist.

Kāraṇa – Cause, reason.

Karma – 1. Action. 2. Karma matter or particles of Karma Pudgala Vargaṇā. 3. Karmic encumbrance earned through one's actions.

Karma–mukti – Karmic

freedom.

Kartā – Doer.

Kaṣāya – Passions (anger, pride, deceit and greed).

Kāvya – Poetry.

Kāyā – Body.

Kevalī – Enlightened omniscient.

Kevalajñāna – Purest and infinite knowledge or omniscience.

Kṛta – Done.

Kṣudhā – Hunger.

Kula – Family, lineage, dynasty.

Kūpa – Well.

Kutīrtha – False faith.

Liṅga – Gender, sign, indicator or appearance.

Mana – Mind.

Mānasa – Intention.

Manuṣya – Human being.

Mārga – Way : the liberating path.

Mithyābhiniveśa – False attachment.

Mithyādarśana – False vision, false view, false belief, false attitude or false inclination.

Mithyādṛṣṭi – One who is in the grip of Mithyādarśana.

Mithyātva – Falsehood.

Moha – Delusion produced by false–vision.

Mohanīya – Deluding.

Mokṣa – Freedom (from karmic bondage).

Mudgara – A club, mace.

Muktātmā – Free soul, liberated soul.

Muni – Monk.

Naraka – Hell.

Nāraka – Hellish being.

Nāṭaka – Drama.

Naya – Standpoint; Point of view.

Niḥśeṣa – Complete, without a remainder, irresidual.

Nihnava – Heretic; preacher of falsehood against the precepts propounded by the omniscient Lords; Ungrateful disciple.

Nimitta – Causative agency.

Niravadya ☆– Non–violent.

Nirjarā – Separation (of karma from the soul).

Nirvāṇa – Liberation.

Nirveda – Detachment from the worldly affairs.

Niṣcaya naya – Absolute standpoint.

Nyāya – Logic, justice.

Padārtha – Substance.

Pakṣa – Side.

Palyopama – An immeasura– bly long period (compared to a large pit) of time.

Pañcatantra – A book of animal stories full of worldly wisdom.

Pāpa – Sin, demerit.

Paraloka – Afterlife.

Paramārtha – The ultimate goal.

Parigraha – Attached possession.

Parijana – Relatives and dependents.

Pariṇāma – Contemplation; Thought current.

Pariṇāma – Result.

Pariṇamana – Change.

Paścātāpa – Repentence.

Pātra – Pots, utensils.

Phala – Result or fruit of one's actions.

Pihitāsrava – Influx–stopped.

Pipāsā – Thirst.

Pota – Ship.

Pṛthvī – Land.

Pṛthvikāya – Earth–bodied.

Prāṇa – Vitality of a living being.

Praśasta – Noble.

Pratibhā – Talent.

Pratyākhyāna – Renuncing something such as food, etc.

Prāyaścitta – Atonement for a flaw or misconduct.

Pudgala – Concrete formed and tangible matter discernible by sense organs.

Pūjā – Worship.

Puṇya – Merit, piety.

Rāga – Attachment.

Ramaṇa – Enjoyment, play, indulgence.

Rata – Engaged in (enjoying sensory pleasures).

Ratnatraya – The 'TRI–GEM' or the triad of right–vision, right–knowledge and right conduct : the liberating path.

Roga – Disease, ailment.

Śikṣā – Education; Scriptural learning.

Śaileśī – Rocklike, unshakeable spiritual state just before liberation.

Śakaṭa – Cart.

Śaśvata – Eternal.

Śaṭhatā – Wickedness.

Śaukarika – Pig–hunter, pig slaughterer, butcher.

Śayana – bed.

Śirāvedha – Bleeding to let out bad blood, surgery.

Śrāvaka – The lay follower of the faith.

Śruti – Scriptural hymn.

Ṣaḍdarśan – Six Indian religious philosophies.

Saṁvigna – Desirous of liberation.

Sadanuṣṭhāna – Good under–taking.

Sādhu – The gentle one, monk, ascetic.

Sāgara – Lake, sea, ocean.

Sāgāra Cāritra – House–holders' or layman's conduct.

Sāgaropama – An immeasura–bly long period (comparable to an ocean) of time equivalent to 10^{15} (Daśa–kroḍākroḍī) times a Palyopama.

Saṁsāra – World.

Saṁvara – Stoppage (of karmic influx).

Saṁvega – Desire for liberation.

Samādhi – The state of equanimity of mind or that of being peaceful, calm and tranquil.

Sāmānya – General.

Samatā – Maintaining equanimity in the face of

favourable and unfavourable situations.

Samaya – The immeasurably smallest unit of time, instant; Precept.

Samyagdarśana – Right vision, right view, right belief, right attitude or right inclination.

Samyagdṛṣṭi – One who is endowed with Samyagdarśana.

Samyagjñāna – Right–knowledge.

Samyakcāritra – Right conduct.

Samyaktva – Righteousness or the state of being endowed with right–vision.

Saṅkoca – Contraction.

Sangrāma – War, fight.

Santāna – Progeny.

Santāpa – Misery.

Sarvavirati – Complete renunciation.

Sāsvādana – With lingering taste.

Satrāgara – Charity home.

Satva – Living being.

Sāvadya – Violent.

Śubha – Auspicious.

Siddhānta – Principle, precept.

Sphoṭa – Explosion.

Sthāvarakāya – Immobile–bodied.

Strībandhak – the action that results in female rebirth.

Sudṛṣṭi – Right–vision.

Sukha – Pleasure, the state of sorrowlessness.

Supātra – Well–deserving.

Sūtra – Aphorism, Canonical text.

Svabhāva – Nature.

Svajana – Members of family.

Svarga – Heaven.

Svarūpa – Form.

Tīrthaṅkara – The (spiritual) ford (which launches the soul on its voyage to liberation) maker; Lord Prophet Propounder of the right–faith.

Taḍāga – Pond.

Tapa – Penance, austerities.

Tejaskāya – Fire–bodied.

Tiraskāra – Insult, deriding.

Tṛṣṇā – Desire.

Traskāya – Mobile–bodied.

Tribhāga – Third part, one third.

Tryañca gati – Subhuman species.

Turaga – Horse.

Ūna – Less, short.

Udaya – Rise (of karma in the present context).

Udvigna – Worried.

Udyama – Endeavour.

Upādeya – Worthy, acceptable, adoptable.

Upadhāna – Observance with a specific purpose.

Upādhyāya – Teacher–preceptor of canonical knowledge.

Upaśama – Subsidence of Falsehood and/or infinitely bonding passions

Upāsaka – The lay follower of the faith.

Utsarga – Renunciation.

Vacana – Speech.

Vāda – Debate.

Vadha – Killing, beating.

Vaidya – Doctor (practicing Indian medicine).

Vaidyaka – Indian science of medicine.

Vanaspatikāya – Vegetation–bodied.

Vandana – Bowing.

Vāpi – Staired well.

Vāsara – Day.

Vasati – Monastic shelter.

Vastra – Clothes.

Vastu – Thing.

Vāyukāya – Air–bodied.

Vedana – Feeling, experiencing.

Vidhi – Procedure.

Vihāra – Monastic journey, peregrinations.

Vijñāna kṣaṇa – The very next moment with knowledge or memory of actions of the last moment.

Vikāsa – Spreading,

development, blooming.

Vilīna – Excretory flows.

Vinaya – Humility; conduct–rules.

Vipāka – Retribution of one's good or bad actions.

Virat – Refraining from (enjoying sensory pleasures).

Viśeṣa – Specific, special.

Viṣaya – Sensory enjoyments.

Vitta – Money.

Vratī – The vow–taker, monk, observer of fully restrained monastic conduct.

Vrata – Vow, renunciation.

Vyabhicārī – Corrupt.

Vyabhicāra – Corruption.

Vyādhi – Disease.

Vyākaraṇa – Grammar

Vyavahāra – Practice; Business.

Vyavahāra naya – Practical standpoint.

卐

3. BIBLIOGRAPHY

A Sourcebook Of Jaina Philosophy, Devendramuni Shastri, Eng.Tr. by Dr. TG Kalghatagi, Taraka Guru Jaina Granthalaya, Udaipur, 1983.

Ācārāṅga, Ed. Muni Madhukar, Agam Prakashan Samiti, Beawar,

Abhidhāna Rajendra Kośa : Parts 1–7, Śrī Vijaya Rajendrasūri, Ratlam.

Ardhamāgadhī Kośa : Parts 1–5, Pt. Muni Ratnacandrajī, Amar Publications, Varanasi.

Bhagavati Ārādhanā, Śivārya,

Bhaktaprijñā, Paiṇṇaya Suttāiṁ, ed. Muni Puṇyavijaiji, Mahavīr Jain Vidyalaya Mumbai.

Bhāvapāhuḍa, Kunda Kunda, Aṣṭapāhuḍa, Kundkunda Kahan Trust Jaipur, 1994.

Bodhapāhuḍa, Kunda Kunda, Aṣṭapāhuḍa, Kundkunda Kahan Trust Jaipur, 1994.

Darśanpāhuḍa, Kunda Kunda, Aṣṭapāhuḍa, Kundkunda Kahan Trust Jaipur, 1994.

Daśavaikālika–sūtra, ABS Jain Sanskriti Rakshaka Sangha, Sailana, 1973.

Dictionary Of Jaina Technical Terms, Dr. RC Jain, SJVGI, Songir, Datia, 1994.

Dravya Saṁgraha, Ācārya Nemichandra Siddhanta Chakravarti,

Shri Paramashrut Prabhavak Mandal, Agas, Ed.–V, 1988.

Dravya–Vijñāna, Sadhvi Vidyutprabha, Prākrita Bharati, Jaipur, 1994.

Essence Of Jainism, Pt. Sukhlalji, Eng Tr. By RS Betai, LD Institute Of Indology, Ahmedabad, 1988.

First Steps To Jainism, Parts I and II, AL Sanchti and MM Bhandari, Sumcheti Trust, Jodhpur, 1984.

Jaina Darśan Ke Nava–tattva, Sadhvi Dharmasheela, Prachya Vidyapeetha, Shajapur (MP), 2000.

Jaina Tattva Prakaśa, Muni Amolak Rishi, Shri Amol Jain Jnanalay, Dhule, 2004.

Jainendra Siddhanta Koṣa ; Parts 1–5, Jinendra Varṇī, Bhāratīya Jñānapīṭha, Delhi.

Jiṇa Dhammo, Ācārya Shri Nanesh, Samata Sahitya Prakashan Trust, Indore, 1984.

Jinavāṇī (Monthly Journal), Samyagdarśan Viśeṣāṅka, Samyag–jñāna Pracāraka Maṇḍala, Jaipur, Aug. 96.

Mokṣa Mārga, Ratanlal Dosi, ABS Jain Sanskriti Rakshaka Sangha, Sailana, 1971.

Mokṣapāhuḍa, Kunda Kunda, Aṣṭapāhuḍa, Kundkunda Kahan Trust Jaipur, 1994.

Pañcapratikramaṇādisūtrāṇi, Shri Jain Shreyaskar Mandal, Dhasai, 1925.

Samaṇasuttaṁ, Sarva Seva Sangha Prakashan, 1975.

Samayasāra, Kundakunda,

Sreyas, Tattvārthyasūtra, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Samsthan, Udaipur, 2004.

Sūtrapāhuḍa, Kunda Kunda, Aṣṭapāhuḍa, Kundkunda Kahan Trust Jaipur, 1994.

Tattvārthasūtra, Pt. Sukhlalji, Eng Tr. By KK Dixit, LD Institute Of Indology, Ahmedabad, Ed. II, 2000.

Uttarādhyayana Sūtra, Sadhvi Shrichandana, Sanmati Jnanapeeth, Agra, 1972.

卐 卐 卐

डॉ.हेमलता बोलिया

बहुमुखी साहित्यिक अभिरुचि की एक विदुषी लेखिका है।

अब तक वे भक्तामरस्तोत्र के मेवाड़ी भाषानुवाद व संस्कृत पाण्डुलिपियों के वर्णनात्मक सूचीपत्र तथा दो शीघ्र प्रकाश्य ग्रंथों - महार्थ मंजरी : एक अध्ययन व शब्दप्रमाणमीमांसा - सहित अनेक शोधालेखों का प्रणयन कर चुकी हैं। वे आकाशवाणी व दूरदर्शन की नियमित वार्ताकार भी हैं।

संप्रति वे मोहनलाल सुखाड़िया विश्व-विद्यालय के संस्कृत विभाग में सह-आचार्या हैं।

Dr. D.S.BAYA

is an well-known and erudite scholar of Jainology.

He has won many laurels for his notable contribution to Jaina literature. Besides publishing numerous research-papers in national research journals, he has, todate, twelve published and three about to be publisehed books, on various disciplines of Jaina-studies, to his credit.

After a satisfying career in the Indian Army from where he retired in 1995 after nearly three decades of distinguished service, Col. Baya is presently a visiting Professor of Jainology, H.R.M. and Business Ethics.

लेखकों की अन्य कृतियाँ

डॉ. हेमलता बोलिया –

1- A Descriptive Catalogue of Samskrit manuscripts
2- भक्तामर स्तोत्र का मेवाड़ी अनुवाद
3- महार्थमंजरी (शीघ्र प्रकाश्य)
4- शब्द प्रमाण मीमांसा (शीघ्र प्रकाश्य)

डॉ. कर्नल दलपतसिंह बया 'श्रेयस' –

1- JAINISM : THE CREED FOR ALL TIMES, Prakrit Bharati, Jaipur.
2- TATTVARTHA SUTRA (Bilingual), Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
3- CHANDRAVEDHYAKA PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
4- CATUHSHRANA PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
5- SAMSTARAKA PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
6- SARAVALI PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
7- MAHAPRATYAKHYANA PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
8- GACCHACHAR PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
9- VEERASTAV PRAKIRNAKA, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
10- PRAKRIT PEARLS, Agam Ahimsa Samata Evam Prakrit Sansthan, Udaipur.
11- Bhagwan Rishabhdeva's Hall of Religious Congregation, Jambudvipa, Hastinapur.
12- जैन–धर्म : जीवन–धर्म, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

卐